वीरेशलिंगम्

नार्ल वेंकटेश्वर राव

H
891.482092
R 189 V

भारतीय
साहित्य के

891.11 482
092
R 189 V

'समाज-सुधारक और प्रगति के पताकाधारी', 'आधुनिक आंध्र के जनक', 'साहित्यिक युग-प्रवर्त्तक' ये कुछ उपाधियाँ हैं जो वीरेशलिंगम् को दी गई हैं। पर इन सबसे भी बढ़कर वीरेशलिंगम् एक महापुरुष थे, जिनकी अदम्य इच्छा-शक्ति उनके शोचनीय स्वास्थ्य को परास्त करती रही।

भारत और भारत से बाहर वीरेशलिंगम् का नाम दूर-दूर तक प्रचारित होना उचित है। प्रस्तुत पुस्तिका में विशिष्ट ग्रन्थकार और पत्रकार श्री नार्ल वेंकटेश्वर राव ने एक ऐसी सुपाठ्य और यत्नपूर्वक प्रणीत जीवनी पाठकों के सामने रखी है जो इस आवश्यकता की सम्यक् पूर्ति करती है। आधुनिक भारतीय साहित्य और पत्रकारिता के निर्माता के रूप में वीरेशलिंगम् के योगदान को केन्द्र बनाकर श्री नार्ल ने उनके जीवन के विविध अंगों पर दृष्टिपात करके भारत के इस महापुरुष का प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत किया है। पुस्तक के अन्त में समाविष्ट अनुक्रमणिका और टिप्पणियों से इसकी उपादेयता और भी बढ़ गई है।

SAHITYA AKADEMI
REVISED PRICE Rs. 15.00

CATALOGUED

वीरेशलिंगम्

भारतीय साहित्य के निर्माता

वीरेशलिंगम्

लेखक
नार्ल वेंकटेश्वर राव

अनुवादिका
हेमलता आंजनेयुलु

साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली

Veereshalingam : Hindi Translation by Hemlata Anjaneyulu of the English monograph by V. R. Narla. Sahitya Akademi, New Delhi (1971) Price Rs. 2.50

Library IIAS, Shimla
H 891.482092 R 189 V
00088188

प्रथम संस्करण १९७१
© साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली

H
891.482 092
R 189 V

SAHITYA AKADEMI
मूल्य : REVISED PRICE Rs. 15.00

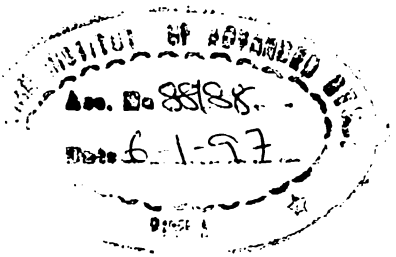

मुद्रक :
रूपाभ प्रिंटर्स, दिल्ली-३२

प्रिय मित्र
और
साहसी संघर्षक
प्रोफेसर एन० जी० रंगा को

आभार

इन्हें मेरा हार्दिक धन्यवाद—

श्री एम० चलपति राव, संपादक 'नेशनल हेराल्ड', लखनऊ, और श्री आर्टर ईसेनबर्ग को, टाइप-प्रति पढ़कर मुझे कई बहुमूल्य सुझाव देने के लिए;

आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय, हैदराबाद, के न्यायाधीश श्री ए० सांबशिव राव को, मेरे कार्य की प्रगति में भारी रुचि दर्शाने के लिए;

हैदराबाद के डॉ० रमापति राव को, वीरेशलिंगम् की कृतियों की सहायक ग्रंथ-सूची तैयार करने में मेरी सहायता के लिए; और

श्री एम० वी० सुब्बाराव 'आंध्र ज्योति', विजयवाडा को, मेरी मूल प्रति तीन बार टाइप करने तथा मुझे अन्य सहायताएँ देने के लिए।

—वी० आर० नार्ल

अनुक्रमणिका

१.	भूमिका	९
२.	आरंभिक जीवन और संघर्ष	१४
३.	लेखन के आरंभिक अभ्यास	२०
४.	पुनर्जन्म	२४
५.	नये गद्य के निर्माता	२६
६.	अनेक मोर्चों पर लड़ने वाले	३२
७.	लम्बी छलाँग	४०
८.	आधुनिक तेलुगु पत्रकारिता के निर्माता	४६
९.	तेलुगु उपन्यास के जन्मदाता	५३
१०.	प्रथम तेलुगु नाटककार	५९
११.	अन्य मार्गदर्शक कृतियाँ	६६
१२.	वाद का जीवन और प्रशस्तियाँ	७२
१३.	व्यक्ति और उनकी सफलताएँ	८०
१४.	प्रमुख रचनाओं की सूची	८६

भूमिका

आधुनिक भारतीय नव जागरण को अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश से आँका जा सकता है। लेकिन अगली शताब्दी के पूर्वार्ध में ही यह चेतना-शक्ति और गति बटोर सकी। बंगाल इसमें अगुआ था। पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता के गहरे प्रभाव के कारण यही भारत का पहला प्रांत था जो अपने को जड़-अतीत की बेड़ियों से मुक्त कर सका। उपनिषद् काल और बौद्ध युग की याद दिलाने वाली मानसिक स्वतंत्रता के द्वारा बंगाल के इन विद्वानों ने हर मान्यता पर प्रश्न किया, हर विश्वास की परीक्षा की तथा हर रीति और परंपरा की गहराई में पैठे। राष्ट्रीय पैतृकता की हर असंगत, पिछड़ी और सड़ी-गली बातों को बेधड़क छोड़ते हुए इन्होंने पाश्चात्य जगत् के हर तर्कसंगत, वैज्ञानिक, उदार और प्रगतिवादी तत्त्व का स्वागत किया। अपने जोशीले आवेश में कुछ ने तो नशा-पार्टियों में सम्मिलित होना तथा रूढ़िवादी हिन्दुओं के घरों में गाय का मांस फेंकना शुरू किया। इन एकाध ज़्यादतियों के बावजूद इन्हीं लोगों ने नये प्रात का आह्वान किया था।

आधुनिक नव जागरण को बंगाल से आंध्र प्रदेश तक यात्रा करने में बहुत समय लग गया। लेकिन जब वह उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश की अवधि में पहुँच ही गया तो उसे कंदुकूरि वीरेशलिंगम् में एक साहसिक विजेता का व्यक्तित्व प्राप्त हुआ। बीते समय की खानापूरी करने के लिए उन्हें न केवल राजा राममोहन राय का कार्य हाथ में लेना पड़ा, परंतु अन्य धार्मिक सुधारकों —जैसे देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन और शिवनाथ शास्त्री का कार्य भी सँभालना पड़ा। ईश्वरचंद्र विद्यासागर के कार्य को आगे बढ़ाने के लिए उन्हें शिक्षा और समाज-सुधार के एक-से क्षेत्रों में भी कड़ी मेहनत करनी पड़ी। नवीन बंगला गद्य के निर्माण में राममोहन राय और विद्यासागर के काम से भले ही वे अपरिचित थे, परंतु नए विचारों का प्रवेश कराने के लिए उन्हींको नए तेलुगु गद्य का सृजनकर्ता बनना पड़ा। इसके अतिरिक्त, बंकिमचन्द्र चटर्जी के प्रभाव से परे स्वतंत्र रूप से उन्हें तेलुगु में नव-लेखन का भी प्रवर्त्तन करना पड़ा। यह सब कार्य

मानव-शक्ति से परे थे, परंतु उनके सामने वीरेशलिंगम् ने साहस नहीं खोया। (सर रघुपति वेंकटरत्नम् के शब्दों में) 'सबों के अभ्यर्थी' के रूप में इन सब चीज़ों को उन्होंने अपनी एक ही डग में ले लिया। और अंत में जिन लोगों के बीच उनका जन्म हुआ, उन्हींके जीवन पर अपने शक्तिशाली व्यक्तित्व की छाप छोड़ दी। मध्यकालीन तन्द्रा से उन्हें झकझोरा, अज्ञान को मार-मारकर उनसे दूर भगाया, अंधविश्वासों से उन्हें मुक्त किया; और उनके जीवन तथा विचार-धारा को एकदम आधुनिक, प्रगतिशील एवं मानवीय मोड़ दिया। जैसा कि राजाजी कहते हैं—

"यदि वीरेशलिंगम् ने जीवनी शक्ति न दी होती तो आंध्रप्रदेश और आंध्र लोग वैसे न होते जैसे आज हैं। पैनी अंतर्दृष्टि, भारी साहस और क्रियात्मक शक्ति वाले वीरेशलिंगम्—भारत के महान् व्यक्तियों में से एक थे। उन्होंने झूठ के विरुद्ध लड़ाई की, और प्रगति के लिए अद्भुत शक्ति से संघर्ष किया।"

राजाजी ने जिस क्षेत्र को 'आंध्र देश' कहा है वह वीरेशलिंगम् के जीवन-काल में मद्रास प्रांत का एक अंग था; (आज का) पूरा तमिलनाडु, मैसूर तथा केरल के कुछ भाग उसकी सीमा के अन्दर थे। मद्रास को अपना मुख्य निवास-केन्द्र बना, बंगलौर की अक्सर यात्रा करके वीरेशलिंगम् ने सारे दक्षिण को प्रभावित किया, भले ही वे अपने प्रांत—आंध्र देश के समान उन्हें प्रभावित न कर सके हों। जैसाकि महादेव गोविन्द रानाडे ने घोषित किया है, वे वास्तव में 'दक्षिण के ईश्वरचन्द्र विद्यासागर' थे।

अभ्यास से और स्वभाव से, वीरेशलिंगम् लिखने-पढ़ने वाले जीव थे। लेकिन, यदि लेखन तक ही उन्होंने अपने को सीमित किया होता तो अपने जीवन-काल में जितना विराट् परिवर्तन वे ला सके, उसका एक शतांश भी वे न कर पाते। वे अच्छी तरह जानते थे कि सच्चे साहित्य का समाज पर सहज ही कितना शक्तिशाली प्रभाव पड़ता है; अन्यथा अपने जीवन का इतना बड़ा भाग वे लेखन को न देते। परंतु, उन्हें लगा कि लेखन के लिए जितने समय की आवश्यकता है उतने ही समय की सक्रिय कार्य करने के लिए भी आवश्यकता है। अपनी दैनिकी में वे अपने को ही स्मरण दिलाते हैं :—"सिर्फ पुस्तकें प्रकाशित करने से कोई लाभ नहीं। जो अधिक महत्त्व रखती है और जो मुख्य है वह यह कि हम जिसे सत्य मानते हैं उसे साहस और तत्परता के साथ अमल में लायें।" धार्मिक और सामाजिक सुधारों को अमल में लाने का साहस, जिस पर उनका अदम्य विश्वास है उसके लिए कष्ट सहना—वास्तव में यह उनके व्यक्तित्व के प्रमुख गुण थे : शीघ्रता का कोई प्रश्न नहीं, और न ही किसी प्रकार के समझौते का। बिना किसी

आराम के सारे विरोधों को ठेलते हुए उन्हें आगे बढ़ते ही जाना है।

वीरेशलिंगम् के विचारों की मौलिकता के बारे में, चाहे वे धार्मिक सामाजिक सुधार-संबंधी हों या शैक्षणिक सुधार-संबंधी हों, भले ही कोई सवाल करे, परंतु जिस ईमानदारी के साथ उन्होंने इन्हें कार्यान्वित किया, उस पर कोई दो मत नहीं हो सकते। बिना किसी अनादर के इतना तो स्पष्ट कहना ही होगा कि कई बाहरी चीज़ों को छोड़ देने पर भी, न तो राममोहन राय और न ही देवेन्द्रनाथ ठाकुर जनेऊ त्याग सके। परन्तु वीरेशलिंगम् के साथ बात और थी। मृत्यु से १३ साल पहले सन् १९१९ में उन्होंने जाति और जनेऊ दोनों को ही त्याग दिया। विधवा-विवाह-आन्दोलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने का यदि डर न होता तो उन्होंने बहुत पहले ही यह कदम उठाया होता।

वीरेशलिंगम् की स्थिरता और अनवरत प्रयत्न के दो और उदाहरणों का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है। अपने तथाकथित मित्रों की उदासीनता से निरुत्साहित हो और अपने विरोधियों की कटुता के कारण विधवाओं का विवाह कराने के बारे में, १८९७ में अपनी मृत्यु से पहले विद्यासागर ने रुचि लेना बन्द कर दिया था, जबकि स्वयं उन्होंने ही इस सुधार का आरंभ किया था। वीरेशलिंगम् को भी बढ़ती उदासीनता और विरोध का सामना करना पड़ा था। फिर भी अपने जीवन के अंतिम क्षण तक असहाय बाल-विधवाओं की मुक्ति के लिए वे दृढ़ता से संघर्ष करते रहे। इसके अतिरिक्त, कम-से-कम एक अवसर पर तो वे रानाडे से अधिक साहसी सिद्ध हुए। ईसाई पादरियों की एक दावत में सम्मिलित होने के कारण जाति-निष्कासन की धमकी दिए जाने पर रानाडे ने प्रायश्चित्त किया था। इसके ठीक विपरीत जब विरूपाक्ष पीठ के शंकराचार्य ने वीरेशलिंगम् को जाति-निष्कासन का आदेश दिया तो उन्होंने वह कागज़ उनके चेहरे पर दे मारा।

मेरी यह इच्छा नहीं है कि वीरेशलिंगम् की ओर से पैरवी करके कहूँ कि राममोहन, देवेन्द्रनाथ, विद्यासागर या रानाडे की अपेक्षा वे अधिक महान् थे। स्वयं उन्होंने इसका ज़ोरदार खण्डन किया होता। वास्तव में, वे अपने को इन महारथियों का छोटा साथी मानते थे। बुद्धि और मौलिकता—दोनों ही क्षेत्रों में, भले ही अपने बड़े-बूढ़ों की तुलना में उनका व्यक्तित्व उन्नीस पड़ता था, उन्होंने सदा अधिक समरसता दिखाई तथा हर परिस्थिति में, हर समय अपने सिद्धांतों में दृढ़ रहे। रानाडे, अपने मित्र के० टी० तैलंग को लिखे एक पत्र में भले ही कहें, कि: "कुछ बातें ऐसी होती हैं कि उनसे अलग हो जाना चाहिए, पर सिर्फ़ अलगाव करने के नाते हर किसी से अलग हो जाना ज़रा भी तर्कसंगत नहीं।" पर,

बातें चाहे छोटी हों या बड़ी, वीरेशलिंगम् ने झुकना नहीं जाना। झुकने की अपेक्षा टूट जाना उन्हें अधिक पसन्द था। शारीरिक दृष्टि से वे रुग्ण और कमज़ोर थे; लेकिन जहाँ उनकी मान्यताओं का सवाल आता वहाँ वह इस्पात से भी सख्त थे।

दक्षिण भारत के जीवन-पटल पर क़रीब आधी शती से अधिक समय उनका विशाल व्यक्तित्व छाया रहा, और वहाँ के जनजीवन पर उनका दबदबा रहा। लेकिन उनके समय के इतिहास में उन्हें उचित स्थान नहीं दिया जा रहा है। 'ए सेन्चुरी आफ़ सोशल रिफ़ार्म' (भारत में समाज-सुधार की एक शताब्दी) पुस्तक में एस० नटराजन ने केवल दो बार उनका उल्लेख मात्र किया है। अभी हाल में निकली चार्ल्स एच० हेम्सथ की पुस्तक 'इंडियन नेशनलिज़्म एण्ड हिन्दू सोशल रिफ़ार्म' (भारतीय राष्ट्रीयता तथा हिन्दू-समाज-सुधार) में वीरेशलिंगम् के बारे में केवल एक वाक्य है। यहाँ तक कि आधुनिक भारतीय साहित्य के इतिहासों में भी उनके प्रति समुचित न्याय नहीं किया गया है।

ऐसी उपेक्षा क्यों? क्या इसलिए कि उनका अधिकांश लेखन उनकी अपनी भाषा तेलुगु में है? यदि यह मान्यता के मार्ग का रोड़ा है तो विद्यासागर की ख्याति को क्यों धक्का नहीं पहुँचा, जबकि वे बँगला में ही अधिकतर लिखते थे! क्या यह इसलिए कि लेखक के रूप में अब वे पीछे पड़ गए हैं? लेकिन सोचने की बात है कि ऐसे कौन से साहित्य-प्रवर्त्तक हैं जिन पर ऐसी आलोचना न की गई हो? या जिन सुधारों के लिए उन्होंने संघर्ष किया वे अब सजीव समस्याएँ नहीं रहीं? लेकिन, इसी सवाल पर अन्य सुधारकों की उपेक्षा क्यों नहीं की जाती? इसलिए, असली कारण जानने के लिए, दूसरे पहलुओं पर ध्यान देना होगा।

बात बड़ी स्पष्ट है कि यह, उनके साथी आंध्र लोगों की नितान्त कृतघ्नता है। यद्यपि, यह सच है कि "आंध्र आज यों न होते यदि उन्हें जीवन-शक्ति देने वीरेशलिंगम् न आते" परंतु उन लोगों ने दुनिया को बतलाने की थोड़ी भी चिंता नहीं की कि इस महान् प्रवर्त्तक के वे कितने आभारी हैं। अन्य भाषाओं की बात तो जाने दीजिए, अभी तक तो लोगों ने तेलुगु में ही उनकी व्याख्यात्मक जीवनी नहीं लिखी है। तेलुगु में उनके तीन जीवन-चित्रों को मुश्किल से 'जीवनी' कह सकते हैं। पहली रचना तोलेटि सुब्बाराव की लिखी है जो किसी कोने के गाँव के स्कूल में अध्यापक हैं। यह १८९७ में पहले-पहल प्रकाशित हुई थी और १९११ में कुछ संशोधनों के साथ फिर से छापी गई। यह शौक़िया लिखी एक भौंडी रचना है। पहली रचना की तरह, दूसरी पुस्तक के० शठगोपाचार्युलु की लिखी

है और यह भी उतनी ही खराब है। तीसरी पद्य में है। इनसे कोई बेहतर नहीं। इसकी लेखिका, के० सीतम्मा, वीरेशलिंगम् की विद्यार्थिनी थीं और उनकी अनुयायिनी भी। वीरेशलिंगम् के प्रति गहरा आदर होने पर भी, वह जीवन्त-चित्र उभार न सकीं, क्योंकि इस कार्य के लिए उनमें आवश्यक योग्यता की कमी थी। (सन् १९११ में राजमंद्री से प्रकाशित) जे० गुरुनाथम्-लिखित अंग्रेज़ी के एकमात्र जीवन-चित्र के बारे में जितना कम कहें उतना अच्छा है। वीरेशलिंगम् के सहयोगी, रायसम वेंकटशिवुडु की तेलुगु में लिखी एक पतली सी पुस्तक है, स्मृतियों की, जो स्तुति-गान की अपेक्षा संतप्त-गान अधिक है। इसमें रायसम् ने लिखा है कि वे कितने अच्छे, ईमानदार सहयोगी थे फिर भी वीरेशलिंगम् के साथ उनकी बनती न थी, क्योंकि वे शंकालु स्वभाव के और तुनक-मिज़ाज़ थे। वीरेशलिंगम् के कठिन मानक-स्तरों तक पहुँच न पाने के कारण कई लोग उन पर जल्दबाज़, क्रोधी होने का आरोप लगाते थे।

यदि और कुछ न किया गया होता तो कम-से-कम उनकी 'स्वीयचरित्रमु' (आत्मकथा) का जितनी अधिक भाषाओं में हो सके उतनी भाषाओं में अनुवाद हो जाता तो अच्छा रहता। इसकी विशिष्टता इसलिए नहीं है कि यह तेलुगु में अपने ढंग की पहली पुस्तक है, परंतु इसलिए कि चाहे जिस मानदण्ड से परखें, यह एक महान् जीवनी है। जितना ही पढ़ें उतना ही वह आप पर हावी हो जाती है। इतना सब होने पर भी, एन० सी० नरसिंहाचार्य ने उसके कुछ अंशों का ही अंग्रेज़ी में अनुवाद किया था। कुछ दशक पहले बम्बई में प्रकाशित यह पुस्तक कब की बिक चुकी है और बड़ी कठिनाई से एक-दो प्रतियाँ मात्र मिलती हैं। अभी हाल में प्रकाशित हुई वीरेशलिंगम् के बारे में दो नवीनतम पुस्तकें हैं—एक तेलुगु में और दूसरी अंग्रेज़ी में। न्यायाधीश श्री० ए० सांबशिव राव ने इसका संपादन किया है। ये स्मारक ग्रंथों की तरह हैं। जैसा कि ऐसे प्रकाशनों में होता है, इनके लेखों में गुण की असमानता और पुनरावृत्ति है। फिर भी ये पढ़ने में रोचक हैं।

साहित्य अकादेमी द्वारा आदेशित इस पुस्तक में वीरेशलिंगम् के साहित्य-निर्माता रूप तक ही मुझे अपना क्षेत्र सीमित करना पड़ रहा है। इस सीमितता में भी यदि मैं वीरेशलिंगम् के विचित्र व्यक्तित्व के बारे में, थोड़ा ही सही, यदि पूर्ण और अधिकारपूर्ण चित्र उभार सकूँ तो समझूंगा कि मेरे प्रयत्नों को पूरा प्रतिकार मिल गया।

आरंभिक जीवन और संघर्ष

पाँच-पाँच-सौ पृष्ठों की दो भागों वाली 'आत्मकथा' से वीरेशलिंगम् के कोलाहलपूर्ण जीवन के कई विवरण मिलते हैं। इसमें सन् १९१३ तक की जीवन-कथा यानी मृत्यु से करीब छः वर्ष पहले तक की बातें मिलती हैं। सरसरी तौर पर भी यदि इस जीवनी का सारांश तैयार करें तो भी काफी पृष्ठ भर जायँगे, इसलिए उनके आरंभिक जीवन और संघर्ष से संबंधित कुछ मुख्य अंशों का यहाँ तुरन्त सर्वेक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है।

वीरेशलिंगम् का जन्म १६ अप्रैल, सन् १८४८ को राजमन्द्री (सही नाम-राजमहेन्द्रवरम्) में हुआ था। उनके पिता सुब्बरायुडु गरीब ब्राह्मण थे। शैव मतानुयायी थे। माता का नाम था—पुन्नम्मा। अपने समय की अधिकांश स्त्रियों की तरह वे अशिक्षित थीं। अपने जीवन के अधिकांश समय वे कठिन बीमारी और अंधविश्वास के कड़े पाश में जकड़ी रहीं। उनके एक-मात्र बेटे—वीरेशलिंगम् ने उनसे बीमारी की दाय तो पाई किन्तु भूत-पिशाच और अनेक बेतालों के बारे में उनका डर नहीं। जन्म से ही वे मन्दाग्नि-ग्रस्त थे। सख़्त सर्दी और छींकों के दौर के वे शिकार थे। जीवन-भर बढ़ते दमा रोग का आरम्भ बचपन में ही हुआ था। छः महीने की उम्र में उन पर चेचक का प्रकोप हुआ। यह प्रकोप इतना प्रचण्ड था कि माता-पिता को उनके बचने की आशा न रही। आम तौर पर देखें तो सन् १८७० तक शायद ही ऐसा कोई वर्ष रहा हो जब वे किसी-न-किसी सख़्त बीमारी के शिकार न हुए हों। तीन बार वे डूबते-डूबते बचे। यह आश्चर्य की ही बात है कि वे इन सबके बीच से बच निकले।

वीरेशलिंगम् के जन्म के समय सुब्बरायुडु ग़रीब तो थे पर पहले उन्होंने अच्छे दिन देखे थे। उस समय के मानदण्ड के अनुसार उनके पूर्वज बहुत धनी थे। कुछ ने तो ज़मींदारों के पास दीवानगिरी भी की थी। उन्हें जागीरें मिली थीं। वे सुसंस्कृत थे और कला व साहित्य के उदार संवर्धक भी। उनके पिता के अविवेकी, जल्दबाज़ खर्चीलेपन तथा हर किसी को उपहार और दान देने के कारण ही सुब्बरायुडु और उनके बड़े भाई वेंकटरत्नम् को दाने-दाने के लिए

तरसना पड़ा। तेलुगु साहित्य में दक्षता, अच्छी शिक्षा और अंग्रेज़ी का थोड़ा बहुत ज्ञान होने पर कई वर्ष तक दोनों ने नौकरी की खोज न की, बल्कि अपने पैतृक भवन के आस-पास की विशाल भूमि के टुकड़े और पारिवारिक आभूषणों तथा चाँदी के बर्तनों को बेच-बेचकर काम चलाते रहे। जब उस बड़े मकान को छोड़कर उनके पास बेचने के लिए कुछ न रहा तो वे पास वाले शहरों में नौकरी ढूँढ़ने निकले। भाग्य से काकिनाडा के एक सरकारी कार्यालय में साधारण वेतन पर सुब्बरायुडु को क्लर्क का काम मिल गया। वहीं काम करते समय, थोड़े समय के लिए बीमार पड़े और छोटी उम्र में ही उनका देहान्त हो गया। परिवार पर जब यह वज्रपात हुआ तो वीरेशलिंगम् पूरे चार साल के भी न थे।

पति की अनपेक्षित एवं आकस्मिक मृत्यु ने पुन्नम्मा की स्थिति बड़ी जटिल कर दी। देवर वेंकटरत्नम् को उनके प्रति सहानुभूति थी, दुःख भी बटा लेते थे, परन्तु अपने सीमित साधनों के कारण पुन्नम्मा या उनके बेटे की वे अधिक सहायता न कर सके। आधुनिक शिक्षा दे पाने का कोई साधन न देखकर पुन्नम्मा ने अपने लड़के को एक के बाद एक दो परम्परागत पाठशालाओं में भेजा। पहली पाठशाला मंदिर में लगती थी और इसके शिक्षक की जीभ बड़ी लिपलिपी थी। दूसरी शाला एक खुली बरसाती में लगती थी जहाँ एक कुबड़ा शिक्षक पढ़ाता था। दूसरी पाठशाला पहली से एक तरह अच्छी थी। इस शिक्षक ने तेलुगु और उसके कुछ लोकप्रिय महाकाव्यों को पढ़ाकर वीरेशलिंगम् की पढ़ाई की ठोस नींव तैयार कर दी। आरम्भिक शिक्षा पूरी करते ही पुन्नम्मा ने सोचा कि अब समय आ गया है जब उनका पुत्र किसी सरकारी नौकरी के लिए आवश्यक योग्यता प्राप्त करे, और रेवेन्यू आफिस में क्लर्क का काम करने वाले अपने एक रिश्तेदार के पास अभ्यास के लिए उन्हें लगा दिया। इस सज्जन के पास वीरेशलिंगम् ने साल-दो साल काम किया। जो भी खाली समय मिलता उसे वे अपने चाचा से गणित और अंग्रेज़ी सीखने तथा परिवार के एक मित्र से संस्कृत सीखने में बिताते।

इस प्रकार परिश्रम करते समय सन् १८६० में तक़दीर जैसे वीरेशलिंगम् पर मुस्काई। पुन्नम्मा ने अब यह विचार छोड़ दिया कि उनका बेटा तुरन्त कमाई का पैसा उन्हें लाकर दे, फिर चाहे यह रक़म कितनी छोटी ही क्यों न हो। और उन्होंने वीरेशलिंगम् को उच्च शिक्षा के लिए सरकारी ज़िला स्कूल में भेज दिया। इस घटना ने वास्तव में उनके जीवन में एक मोड़ ला दिया।

स्मरण-शक्ति तीव्र होने के कारण जिसे एक बार पढ़ते कंठस्थ हो जाता, —और सतत लगन से वीरेशलिंगम् कक्षा में प्रथम आये। सारे पुरस्कार जीते

और कुछ छात्रवृत्तियाँ भी। सर्व सम्मति से वे स्कूल के 'आश्चर्यजनक बालक' कहलाए। न केवल पढ़ने में वे प्रतिभावान थे पर चारित्रिक स्तर पर भी आदर्श थे। दौरे पर आए इंस्पेक्टर ऑफ़ स्कूल्स ने जब सर्वोत्तम विद्यार्थी के लिए पुरस्कार घोषित किया तो सबकी सहमति से यह वीरेशलिंगम् को दिया गया।

वह किस माटी के बने थे यह बताने के लिए उनके लड़कपन के दो विशेष उदाहरण दिये जा रहे हैं। तेलुगु की प्रख्यात कालजयी रचना 'वसुचरित्र' पढ़ने की इच्छा हुई तो वीरेशलिंगम् ने अपने घर की अटारी में रखे, बाल-पत्री पुस्तकों का ढेर छान डाला, पर श्रम व्यर्थ गया। काफ़ी सोच-विचारकर, माँ के पास जाकर उन्होंने यह पुस्तक खरीदने की अनुमति के लिए बड़ी पैरवी की। माँ ने पूछा कि क्या वह पाठ्य पुस्तक है; पर जब वीरेशलिंगम् ने नकारात्मक उत्तर दिया तो वे अड़ गईं। पुस्तक को आदि से अन्त तक पढ़ने की तीव्र इच्छा को न दबा सकने पर उन्होंने एक रास्ता ढूँढ़ निकाला। अपने जेबी खर्च से बचाई एक अठन्नी उनके पास थी। इसमें उन्होंने एक अठन्नी और जोड़ी जिसे माँ ने स्कूल की फीस जमा करने के लिए दिया था। इसे लेकर वे एक स्थानीय पुस्तक-विक्रेता के पास गए और इसे पुस्तक की कीमत के लिए पेशगी देते हुए प्रस्ताव रखा कि बाकी के तीन रुपये वे छह किश्तों में अदा कर देंगे। प्रस्ताव स्वीकार करते हुए, सावधान होने के कारण, विक्रेता ने ज़ोर दिया कि जब तक पुस्तक की पूरी क़ीमत चुकाई नहीं जाती तब तक पुस्तक वे उसे दूकान से बाहर नहीं ले जा सकते। हाँ, दूकान में बैठकर उसे वे पढ़ सकते हैं। इसी छोटी-सी कृपा पर बहुत आभारी होकर, वीरेशलिंगम् ने स्कूल से मुँह मोड़ लिया और 'वसुचरित्र' की क्लिष्ट पाठ्य-सामग्री पर अधिकार पाने के लिए अपना सारा समय बिताना शुरू किया। क़रीब एक महीने के बाद जब पुन्नम्मा को ज्ञात हुआ कि वह स्कूल से अनुपस्थित हैं तो उन्होंने कारण पूछा। वीरेशलिंगम् ने तुरंत आँसू बहाना शुरू कर दिया और असली बात बता दी। पढ़ाई के प्रति बालक की लगन देखकर अंत में वे द्रवित हो गईं और अपनी क्षीण आय में से बाक़ी की कीमत देकर अपने बेटे को 'वसुचरित्र' पुस्तक का गौरवान्वित स्वामी बना दिया।

अलग ढंग का होने पर भी दूसरा उदाहरण कहीं और महत्त्व का है। अंग्रेजी भाषा के शिक्षक के रूप में अपने प्रधान अध्यापक की अयोग्यता से असंतुष्ट होकर, तथा विद्यार्थियों के प्रति उनके कठोर व अभद्र व्यवहार से क्रुद्ध होकर केवल बारह वर्ष के किशोर वीरेशलिंगम् ने उनके तबादले के लिए आवेदन पत्र तैयार किया और उनके विरुद्ध सफल हड़ताल कराई। कुछ समय के बाद प्रधान अध्यापक का तबादला हो गया और अधिक योग्य अधिकारी की उनके स्थान पर नियुक्ति

हुई। यहाँ हमें वीरेशलिंगम् के व्यक्तित्व का पूर्वाभास स्पष्ट रूप में मिलता है। आगे चलकर अनेक सामाजिक कुरीतियों और अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष करने वाले नायक के रूप में वह यहीं से हमारे सामने आते हैं।

वालक के रूप में उनका एक कदम ही ग़लत पड़ा था जव उन्होंने कुछ वुरे साथियों की संगत में ताश खेलना शुरू किया। वड़ी नादानी में इमली के वीजों को दाँव पर लगाने से यह शुरू हुआ। फिर इनके स्थान पर कौड़ियों और फिर पाइयों को दाँव पर लगाया गया। छोटे सिक्कों के रूप में तव पाइयों का प्रयोग होता था। दस कौड़ियों से एक पाई वनती। शीघ्र ही इसमें उन्होंने कुशलता प्राप्त कर ली और तीन रुपयों का लाभ भी हुआ। एक सी विजय से ललचाकर एक दिन अपने साथियों के साथ एक नाचने वाली के घर पर खेलना वीरेशलिंगम् ने स्वीकार कर लिया। इस वदनाम जगह पर दूसरे दिन की वैठक में नाचने वाली लड़की ने खुद खेलना चाहा। यह वीरेशलिंगम् के लिए गहरी चोट सिद्ध हुई और उन्होंने तय किया कि वह अव कभी ताश को हाथ न लगायँगे।

उस समय की प्रचलित प्रथा के अनुसार, कुछ वर्षों से वीरेशलिंगम् की माता और चाचा, उनके लिए योग्य वधू की खोज कर रहे थे। वहुत ढूँढ़ने के वाद सन् १८६१ में पास के गाँव की एक लड़की उन्होंने पसन्द की। लड़की का असली नाम था—'वापम्मा' परंतु वीरेशलिंगम् की माता ने उसे अधिक ओजस्वी नाम—'राज्यलक्ष्मी' में वदल दिया। उनकी आयु मुश्किल से १३ वर्ष की होगी और उनकी दुलहन ने अभी-अभी ही नौवें वर्ष में पदार्पण किया था। दोनों में से एक भी नहीं जानता था कि विवाह का सच्चा अर्थ क्या है। उन्होंने सोचा कि यह मौज उड़ाने, हँसी ठिठोली करने और खान-पान का अच्छा अवसर है। और सच देखा जाय तो, इसे अक्षरशः ऐसा ही वनाया गया था। उधार लिये हुए पैसों से नये कपड़े और ज़ेवर ख़रीदे गए थे, मन तृप्त हो ऐसा भोज दिया था। एक पालकी वुलाई गई थी और जुलूस निकाला गया। सवके ऊपर, उस समय की सवसे अधिक व अति आवश्यक सजावट—नाचपार्टी का कार्यक्रम भी। वास्तव में दो नाच-पार्टियाँ थीं—एक वर की ओर से और दूसरी वधू की ओर से भाड़े पर वुलाई गई थी।

विवाह के एक वर्ष वाद, राज्यलक्ष्मी को चेचक निकली; इसके अगले वर्ष वीरेशलिंगम् सख्त वीमार हुए। इसीके साथ-साथ चाची और माँ के वीच सुलग रहे झगड़े ने भीषण रूप ले लिया। माँ के प्रति गहरा प्यार होने पर भी अपनी 'आत्मकथा' में वीरेशलिंगम् ने लिखा है कि इस गंदी लड़ाई में अधिक दोष माँ का था। वे कहते हैं कि उनकी माँ वड़ी तुनकमिजाज़ थीं, और ज़रा-सा भड़-

कावा हो, चाहे सच या झूठ—वह तुरंत क्रोधोन्माद में बदल जाता। तिस पर वह अभिमानिनी भी थीं। अत्यधिक दयनीय दशा में भी वह दूसरों से सहायता लेना स्वीकार नहीं करतीं। वेनारे वेंकटरत्नम् ने जब देखा कि अब किसी प्रकार से भी मिलाप संभव नहीं है, तो यही उत्तम समझा कि उनकी सम्मिलित सम्पत्ति में से जो कुछ बचा है उसे बराबर दो भागों में बाँट दिया जाय। उनके अपनी कोई सन्तान न थी और वीरेशलिंगम् को वे बहुत प्यार करते थे। उन्हें अत्यधिक कष्ट हुआ कि वे उनके अभिभावक न रहेंगे। बँटवारे का दस्तावेज़ तैयार होते-न-होते, हताश और भग्नोत्साहित हो वे चल बसे। जो भी हो, यही परिवार की फूट का अन्त न था। पुश्तैनी घर में से वेंकटरत्नम् की पत्नी के हिस्से की बिक्री के बारे में झगड़ा खड़ा हुआ। पुन्नम्मा द्वारा आरंभित न्यायिक युद्ध का फैसला उन्हींके विरुद्ध पड़ा—पहले निचली अदालत में और फिर अपील करने पर। फलतः कानून-खर्च के भुगतान में राज्यलक्ष्मी के आभूषण भी खप गए।

इस समय परिवार की मासिक आय थी चार रुपये, जो घर के एक हिस्से को किराए से उठा देने पर मिलती थी। जीवन-निर्वाह का स्तर बहुत ही नीचा होने के कारण, इस थोड़ी-सी रक़म में माँ, बेटा और बहू किसी तरह अपना गुजर-बसर कर लेते थे। हमेशा की ही तरह, बीमारी के दौरे वीरेशलिंगम् के अध्ययन में बाधा डालते रहे, परंतु इस्पात-से दृढ़निश्चयी होने के कारण वे आगे पढ़ते रहे। अंततः, उन्होंने १८६८ में मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा दी, पर फेल हो गए। १८६९ में वे दुबारा परीक्षा न दे सके, क्योंकि पूरे वर्ष वे बीमार थे। अतः अगले वर्ष प्राइवेट विद्यार्थी के रूप में उन्होंने परीक्षा दी और पास हुए।

सरकारी परीक्षा में फेल होने तथा दो वर्ष बाद उसीमें पास होने तक की अवधि में एक स्थानीय वकील का अंग्रेज़ी-पत्र-व्यवहार सँभालने के लिए वीरेशलिंगम् राज़ी हुए। सवेरे तीन घंटे काम करने के लिए उन्हें तीस रुपये माहवार मिलते। लेकिन, मालिक का रखैल के साथ कार्यालय में ही अवाञ्छनीय प्रेम-व्यवहार और खुली अश्लीलता ने वीरेशलिंगम् को एक महीने के बाद ही यह काम छोड़ देने पर विवश कर दिया। अगला कार्य था, कुछ अंग्रेज़ों को तेलुगु पढ़ाना। इसे उन्होंने अनुकूल पाया।

तेलुगु का अध्ययन करने वाले उन दो विदेशियों में से एक थे मिस्टर 'बरो' जो उनके विद्यालय—'गवर्नमेण्ट डिस्ट्रिक्ट हाई स्कूल' के हेडमास्टर थे। छोटी उम्र के अपने अध्यापक से प्रसन्न होकर, मैट्रिक्युलेशन पास होते ही, मिस्टर बरो ने उन्हें २५ रुपये मासिक वेतन पर सहायक अध्यापक नियुक्त कर दिया। यह अस्थायी पद होने के कारण, केवल एक वर्ष तक ही वे इस काम पर रह सके। इन दिनों

वीरेशलिंगम् की आकांक्षा वकालत पास करने की थी। इसलिए, इस दिशा में पहला क़दम उठाकर १८७१ में उन्होंने 'क्रिमिनल हायर ग्रेड' परीक्षा पास की। आगामी सालों में, वे दो और परीक्षाओं में भी सफल हुए—ये थीं—अनुवाद (निचली श्रेणी) तथा सार-लेखन। यदि वे चाहते तो और थोड़ा परिश्रम करके वकीली आरंभ करते या फिर 'जूरी' में ही लिये जाते; परंतु वकीली और जूरी पेशों के गौरवपूर्ण नाम पर कालिख पोतने वाले निचले नैतिक स्तरों ने उन्हें अध्यापन-क्षेत्र में ही रहने के लिए विवश किया।

'कोरंगि' के इंग्लिश स्कूल में तीस रुपये मासिक वेतन पर हेडमास्टर के पद पर सन् १८७२ में उनकी नियुक्ति हुई और शीघ्र ही आदर्श शिक्षक के रूप में उन्होंने ख्याति प्राप्ति की। कुछ वर्षों के वाद इससे बड़ी संस्था का कार्य-भार सँभालने के लिए उन्हें आमंत्रित किया गया। यह था 'धवलेश्वरम् का एंग्लो वर्नाक्यूलर स्कूल'। यहाँ पर इनकी मासिक आय थी—४४) रुपये। इस नए पद पर दो वर्ष रहने के वाद उन्होंने इस्तीफा दे दिया ताकि समाज-सेवा के लिए अपने को वे पूरी तरह मुक्त रख सकें। अपने मस्तिष्क में कई योजनाएँ सँजोए वे राजमंद्री लौटे। परंतु मित्रों और हितचिन्तन्कों की सलाह से उन्होंने तत्काल स्थानीय गवर्नमेंट आर्टस् कालेज में द्वितीय तेलुगु पंडित की नौकरी ले ली। पिछले वेतन से यहाँ कम मिलता था—केवल २५) रुपये मासिक। परंतु वे इस नौकरी में काम करते रहे। अगली पीढ़ियों को अपने दृष्टिकोण के अनुरूप ढाल सकने के सुअवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाते रहे।

लेखन के आरंभिक अभ्यास

बचपन से ही तेलुगु के सर्वोत्तम काव्य, 'नन्नय' से लेकर 'सूरन्न' तक का प्रभाव पड़ने के कारण आरम्भ से ही कवि के रूप में विकसित होने की आकांक्षा वीरेशलिंगम् ने सँजोकर रखी थी। इसके कारण छन्द-शास्त्र का उन्होंने गहरा अध्ययन करना शुरू किया। बीस साल की उम्र होते-होते उन्होंने इस पर अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया और दो 'शतक' (सतसई) लिखने का भी प्रयास किया।

साहित्य की इस विधा, 'शतक' का अन्य भाषाओं में शायद उतना विकास न हो जितना तेलुगु में हुआ है, परन्तु वह मात्र उसकी सम्पत्ति नहीं है। उदाहरणार्थ संस्कृत में भर्तृहरि-रचित शतक हैं। कीथ के अनुसार—

> "वे हमें तीन संग्रहों के रूप में मिली हैं। शास्त्रीय ढंग से हरएक संग्रह सौ पदों का है और विभिन्न छन्दों वाला है जिनमें शृंगार के चित्र इंद्रिय-आकर्षण से दूर, सद्व्यवहार-संबंधी हैं।"

तेलुगु के शतकों का रूप कुछ अलग है। अपवाद शायद ही हो, पर वे एक ही छन्द में रची जाती हैं। अक्सर चार पंक्तियों वाले पद होते हैं और अंतिम पंक्ति अधिकतर टेक होती है। यह टेक या तो कवि की आराध्य देवी या देवता को संबोधित होती है या अपने अभिभावक या फिर स्वयं के लिए होती है। अधिकांश शतक भक्तिप्रधान या सूत्रप्रधान काव्य होते हैं।

तेलुगु साहित्य के आरंभिक काल में ही 'शतक' का प्रादुर्भाव हुआ था। वास्तव में, ग्यारहवीं से बारहवीं सदी तक 'शतक' का विकास काव्य के साथ-साथ व समानान्तर हुआ था। छै सौ से सात सौ शतकों की हस्तलिखित प्रतियाँ अब तक मिल सकी हैं और काफी संख्या में प्रकाशित भी हो चुकी हैं। शतक लेखकों में वेमन्ना का प्रभाव सर्वोपरि रहा है। औरों-जैसे केवल सौ छन्द ही नहीं, परन्तु लगभग तीन हज़ार छन्द उन्होंने लिखे। वे सामाजिक क्रांतिकारक थे—मूर्तिपूजा, जाति-भेद, तथा अपने समय की हर रूढ़िवादिता के विरुद्ध उन्होंने विप्लव खड़ा किया था। वीरेशलिंगम् को अपने समय का वेमन्ना बनना

था, परन्तु युवावस्था में लिखे उनके दोनों शतक नितांत परम्परावादी थे—शैली में भी और कथ्य में भी। भावी मूर्ति - पूजा-विरोधी ने अपने शहर के दो मंदिरों के मुख्य देवताओं को ही इन्हे अर्पित किया था। इनमें पुराने ढंग से मुक्त करने वाला कण मात्र भी यदि कुछ था तो वह था उनका वर्गबद्ध न होना। जन्म से शैव होने पर भी अपने दूसरे शतक में वीरेशलिंगम् ने विष्णु की स्तुति की है। और यह सच है कि अपनी 'आत्मकथा' में इस उदार दृष्टिकोण के लिए वे बधाई की अपेक्षा करते हैं। परन्तु उनका एक भी शतक प्रकाशित न हो सका, क्योंकि उन्होंने उन्हें कहीं रख दिया था और वे बड़ी सुगमता से खो गईं। अपनी किशोरावस्था की रचनाओं का हमें आस्वादन कराने के उद्देश्य से वे अपनी स्मृति के सहारे एक शतक के एक पद को 'आत्मकथा' में दो बार प्रस्तुत करते हैं। परन्तु दोहराये जाने पर भी यह पद बिलकुल फीका लगता है।

सृजनात्मक लेखन के क्षेत्र में वीरेशलिंगम् के अगले अभ्यास अधिक अच्छे न थे। स्वतंत्र या साहसपूर्ण ढंग से सोच न पाने कारण उन्होंने समझा कि पांडित्य ही कविता है, युक्ति ही कला और काव्यप्रेम ही काव्यदृष्टि। फिर भी, उनके प्रति न्याय करते हुए कहना ही होगा कि वे अपने समय के नियमों का पूरा-पूरा पालन करते थे।

'सूरन्ना' ही वयस्क पीढ़ी के अंतिम महान् कवि थे। उनके साथ ही तेलुगु के कालजयी साहित्य का सृजनात्मक युग समाप्त होता है। 'कलापूर्णोदयम्'-जैसी अनोखी कथावस्तु की कल्पना कर सकने वाले, मौलिक विचार वाले तथा उस कृति को कालजयी काव्यरूप में प्रस्तुत कर सकने वाले सूरन्ना भी शब्द-प्रयोगों की चातुरी प्रदर्शित करने से अपने को रोक न सके। उनके 'राघवपांडवीयम्' में एक साथ दो कथानक चलते हैं। एक ओर से यह राम की कथा होती है और दूसरी ओर से पांडवों की कथा। ऐसे दो भिन्न कथानकों को कह सकने वाले एक-से शब्द-समूह का उपयोग कर पाना भले ही दम रोक देने वाली कला-चातुरी हो; परन्तु वह न अच्छी कला है और न अच्छी कविता। सूरन्न से बाजी मार ले जाने के इच्छुक कुछ कवियों ने तीन-तीन कथानकों को एक सूत्र में गूँथा।

अठारहवीं शताब्दी के लगभग मध्य से आरम्भ हुई तेलुगु कविता के ह्रास-युग की पथ-भ्रष्टता का यह कोई अंत न था। 'बंधकवित्वम्' और 'गर्भकवित्वम्' का बोलबाला था। पहले प्रकार में पद्य की रचना ज्यामिती के कुछ ऐसे नमूनों सी की जाती कि बीच-बीच में गूँथे गए शब्द कई आड़ी तिरछी रेखाओं में बैठ जायँ। दूसरे प्रकार में एक पद दूसरे में जड़ दिया जाता था जबकि एक का छन्द दूसरे से बिलकुल अलग होता। इसमें केवल अलग-अलग स्तरों के अर्थ बता सकने

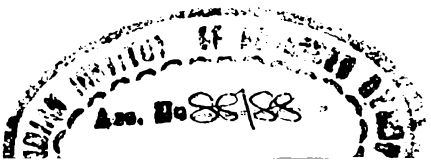

का ही प्रयास होता, या फिर केवल अपनी शब्द-शक्ति बताने या छन्दों पर अपने अधिकार का प्रदर्शन-मात्र होता।

पूरी कविता में तेलुगु से भिन्न भाषाओं से निकले शब्दों का बहिष्कार कर, पूरे-के-पूरे ओष्ठ्य वर्णों को निकालकर सारी-की-सारी कविता एक या दो शब्दों से रचना कि वह घृणास्पद तक हो जाय—ऐसी ही कुछ और कलावाज़ियाँ थीं (विलक्षणता शायद अधिक सही शब्द होगा), जो मौलिक कविता के नाम पर खप जाती थीं।

उस समय के प्रचलित फैशन के शिकार बन वीरेशलिंगम् ने अधिकांश ऐसे रूपों में अपनी कविताएँ लिखने का बहुतेरा प्रयास किया। आश्चर्य-जनक सहजता से बंध, गर्भ और चित्र-पद्यशैलियों में कविता लिखने में उन्होंने सफलता पाई। इससे भी जटिल छन्द-प्रयोगों में उन्होंने अपने को सिद्धहस्त पाया। 'पोन्निकंटि तेलगनार्य' और 'कूचिमंचि तिम्मकवि'—इन दो पुराने कवियों को अपना आदर्श मानकर वीरेशलिंगम् ने केवल तेलुगु शब्दों का प्रयोग करके रामायण व महाभारत की कथा कही। कुछ अन्य रचनाओं में उन्होंने सारे ओष्ठ्य वर्णों को हटा दिया। दूसरे कुछ प्रयोगों में उन्होंने बीच-बीच के गद्य-वर्णनों को अलग कर दिया। तेलुगु के कवि अधिकतर ऐसे टुकड़ों का सहारा लेते रहे हैं जिससे पद्यात्मक वर्णनों में कथानक के ढीले-ढाले अंशों को ठीक-ठीक बाँध सकें। विशिष्टता पाने के लिए इन सारी कलावाजियों का अपनी एक रचना में उन्होंने प्रयोग किया, और इसे 'शुद्ध-आंध्र-निर्वचन-निरोष्ठ्य-नैषधम्' नाम दिया। जब तक इतने बड़े नाम को छोटे-छोटे खंडों में न बाँटो तो उच्चारण कर पाना कठिन है।

इसके बाद वे विशुद्धवादी हो गए। परन्तु जीवन के इस काल में उन्होंने कुछ रति-प्रधान कविताएँ लिखीं। उस समय के प्रचलित मानदण्डों और धारणाओं के अनुसार बिना किसी भावात्मक रंजकता के रति-प्रधान कविता रची ही नहीं जा सकती थी।

इससे पहले वे एक और बात से आकर्षित हुए थे। आशु कविता करना शायद आंध्र लोगों का विशेष गुण है। इसके दो प्रकार हैं :—'अष्टावधानम्' और 'शतावधानम्'। पहले प्रकार में व्यक्ति को एक साथ आठ प्रकार की बौद्धिक प्रक्रियाओं में, जिनमें कविता करना भी शामिल है, अपनी दक्षता का प्रदर्शन करना होता है। दूसरे प्रकार में सौ व्यक्तियों द्वारा उसी समय बताये विषयों पर और छन्दों में सौ पद गढ़ने होते हैं। इसमें पहले पद की पहली पंक्ति से आरंभ करके सौवें पद तक की हर पहली पंक्ति रचने के बाद पहले पद की दूसरी पंक्ति

और क्रमशः सारे पदों की दूसरी पंक्ति पूरी करनी पड़ती है । साहित्यिक कला-बाजी का यह सबसे बुरा प्रकार है। पर खेद है कि अभी तक किन्हीं-किन्हीं स्थानों में इसे साहित्यिक प्रतिभा का सराहनीय कार्य समझा जाता है। वीरेशलिंगम् ने दो या तीन बार अष्टावधानम् किया, पर सिवा सिर-दर्द के और कुछ हाथ न आया तो उसे छोड़ दिया।

पद्य-रचना में वे औरों की तुलना से अलग पड़ते थे। इसलिए, पंडितों से 'कुशल कवि' की प्रशंसा पा लेने में कोई आश्चर्य नहीं। मद्रास की पत्रिका 'द पब्लिक ओपीनियन' (जनमत) ने उनकी पुस्तक 'उत्तर रामायणम्' की समीक्षा में 'सुन्दर पद्यों', 'सही नपे-तुले शब्द और शुद्ध तेलुगु भाषा की अभिरुचि', 'काव्यात्मक प्रतिभा' और उसके 'उच्चकोटि की प्रवाहमयता और रुचिकर शैली' की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

जीवन के किसी पल में भी कविता के इन आरंभिक अभ्यासों को अपनाने में वीरेशलिंगम् ने न कभी आनाकानी की और न ही लज्जा का अनुभव किया। लेखन-काल को दृष्टि में रखते हुए, उनका विश्वास था कि उनकी कविताएँ काफ़ी अच्छी हैं, लेकिन उनके अंतर की गहराइयों में अपनी रचनाओं के बारे में कवि-पद से झाँक-झाँक जाने वाला असंतोष था। सन् १८८७ में प्रकाशित एक रचना में, जिसमें कलाओं की हिन्दू देवी—सरस्वती और दैवी संत—नारद के बीच का वार्तालाप है, वे कहते हैं कि न तो शब्दों की ध्वनियाँ या उनके साथ किया गया जादू, न सजी-सजाई कल्पना, न पुराना पड़ा आत्म गौरव और न सतही पालिश या नकली सजावट से ही सही कविता बन सकती है। इससे स्पेन्सर-रचित 'टीयर्स ऑफ म्यूसेस' (कलादेवियों के आँसू) की याद आती है। ईमानदारी और सन्ताप से भरी पंक्तियाँ स्पष्ट कहती हैं कि इस समय तक वीरेशलिंगम् ने सही कविता के रूप और उसकी आत्मा को समझ लिया था। लेकिन, इस नई समझ और दृष्टिकोण के अनुसार लिख पाना उनके हिस्से में न था।

परम्परागत कविता के साथ-ही-साथ, वीरेशलिंगम् ने परम्परागत गद्य भी काफ़ी लिखा। चूंकि इस पक्ष के बारे में हमें आगे चलकर विस्तार से लिखना है, इसलिए, यहाँ उस नए वीरेशलिंगम् की ओर ध्यान देते हैं जो इस समय पुनर्जन्म की प्रतिक्रियाओं से गुज़र रहे थे।

पुनर्जन्म

माना जाता है कि तीन उच्च वर्गों के व्यक्तियों का जन्म दुबारा होता है। दूसरा जन्म तब होता है जब यज्ञोपवीत-संस्कार के बाद उन्हें गायत्री मंत्रों की दीक्षा दी जाती है। ब्राह्मण माता-पिता के पुत्र, वीरेशलिंगम् का यज्ञोपवीत सात वर्ष की आयु में हुआ था, परंतु यदि कोई उनसे पूछता कि तुम्हारा दूसरा जन्म कब हुआ तो वे उसे सात वर्ष की उम्र से न कहकर अपने बीसवें या इक्कीसवें वर्ष में बताते।

अपने बचपन में, अपनी पीढ़ी के अधिकांश लड़कों से वे कहीं अधिक ईमानदार और कट्टर पुराणपंथी थे। सवेरे, दोपहर और शाम—दिन में तीन बार वे गायत्री का जप करते। विशेष अवसरों पर वे हज़ार बार जप करते। विधिपूर्वक गोदावरी नदी में स्नान कर सूर्यास्त के समय वे स्थानीय शिवालय में जाते। इस समय की रीति के अनुसार, पवित्रता से जाने के लिए, माथे और कंधों पर वे भस्म लगाते। शिवरात्रि के दिन वे उपवास करते और सारी रात जागरण करते। जीवन के इस मौक़े पर वैदिक और अन्य मंत्रों की फलोत्पादकता में उनका अटूट विश्वास था। कठिन तपस्या करके वे जीवन की संजीवनी प्राप्त करना चाहते थे। पुराणों में वर्णित ऋषि उनके आदर्श पुरुष थे। अपने तीन मित्रों में उन्होंने इस आकांक्षा को उभारा कि हिमालय जाकर दैवी शक्तियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। जब वे यात्रा के लिए तैयार हो गए और जाने के लिए जोर देने लगे तो वीरेशलिंगम् ने हिम्मत हार दी और उनसे अलग हो गए। अपने युवा गुरु के अलग हो जाने पर भी, सिर्फ़ कुछ दुस्साहसों के बाद वापस आने के लिए वे अपने-अपने घरों से भाग गए।

हमें ठीक-ठीक पता नहीं कि कब वे अपने धर्मावलंबन से हट गए। न ही हम जानते हैं कि कैसे उनमें पहली बार क्रांति का बीजारोपण हुआ। अपनी 'आत्मकथा' में उन्होंने इसके बारे में कोई भी उल्लेख नहीं किया है, हालाँकि इसने न केवल उनके जीवन में परंतु आंध्र देश के इतिहास में निश्चित रूप से नया मोड़ दिया है। परंतु 'आत्मकथा' के बिखरे छोटे-छोटे संदर्भों से पता चलता है कि जब वे केशवचन्द्र के संकलित भाषणों की प्रति पढ़ रहे थे तो कई मान्य विश्वासों और

रिवाज़ों के बारे में उनके मन में शंकाएँ जगीं। इन्हीं दिनों मछलीपट्टनम् से तबादला होकर आए शिक्षक, डी० लक्ष्मीनरसिंहम् से उनका संपर्क हुआ तथा उनसे सेन के उपदेशों तथा ब्राह्म मत के राममोहन, देवेन्द्रनाथ आदि अन्य नेताओं की जानकारी प्राप्त हुई, जिन्होंने उपनिषदीय एकेश्वरवाद का कुछ अंश में पुनर्जीवन और कुछ अंशों में पुनर्व्याख्या की। इस नई आस्था से प्रेरित होकर कुछ इने-गिने सहयोगियों के साथ वे बंद दरवाजों की ओट में आपस में मिला करते, ताकि सच्चे अर्थों में आपस में चर्चा की जा सके। उनकी रहस्यमयी बैठकों की बात किसी तरह प्रकट हो गई और लोगों को हँसी उड़ाने का मसाला मिल गया। रास्ते में जाते समय अक्सर 'मीटिंग वाला' कहकर उन पर छींटा-कसी होती; लेकिन बंद-द्वार की बैठकें जारी रहीं और इन्हींसे आधुनिक आंध्र के पिता—नये वीरेशलिंगम् का प्रादुर्भाव हुआ।

एक बार जब वे किसी नये पथ पर पग धरते तो लौटने का नाम न लेते। 'दो क़दम आगे और एक पीछे'—उनके स्वभाव के विपरीत बात थी। आरंभ में ही, उन्होंने जान लिया था कि यात्रा लम्बी और दुःसाध्य होगी, उन्हें कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा और यह कि अकेले ही उन्हें सारी दुनिया के समक्ष खड़े होना पड़ेगा। वे यह भीजानते थे कि यह संघर्ष व्यक्तियों से कम पर उन दिमागों से अधिक था जो बरसों से जड़ता के आदी हो गए थे। वे यह भी जान गए थे कि अब कभी आराम करने या थोड़ा थमने की उन्हें आशा ही नहीं करनी चाहिए। लेकिन, इस सारे बोध ने उन्हें ज़रा भी नहीं डिगाया। बल्कि उसने उनके इरादे को फौलाद बना दिया, ताकि वह संघर्ष कर सकें और विजयी हो सकें। वे निरंतर आगे बढ़ते रहे और एक साथ कई मोर्चों पर लड़ते रहे।

नये साहित्य के निर्माण के लिए न तो नया मुहावरा चाहिए, न नया साहित्यिक तकनीक, या लिखने का कोई नया ढंग; हालाँकि वे सब आवश्यक अंग हैं और नये साहित्य के आविर्भाव में इनका बहुत बड़ा हाथ है। परंतु, नये साहित्य के लिए क्या आवश्यक है, यह उसके अंतिम अन्वेषण से पता चलता है कि नये साहित्य के लिए आवश्यक है—नया आवेग, नई दृष्टि, हृदय को मथ सकने वाला नयापन, जो नये गतिमान और संगठित जीवन के दर्शन की ओर ले जाय। अगर यह है तो हर चीज़ बिना किसी श्रम के साथ चली आती है। अपने परम्परावादी बंधनों को ढीला कर, और इस तरह नया जन्म लेकर ही, वीरेशलिंगम् अपने लिए जीवन का नया दर्शन गढ़ सके। और यही उन्हें नये साहित्य-सृजन की ओर बढ़ा ले गया। यह अपने परिवेश और कथ्य में नया था। उद्देश्य में नयापन था और आशयों में भी। इस दिशा के पहले क़दम के रूप में उन्हें एकदम नये ढंग से गद्य का निर्माण करना पड़ा।

नये गद्य के निर्माता

अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य के समान ही तेलुगु साहित्य में गद्य का प्रादुर्भाव आधुनिक काल तक नहीं हुआ। 'चंपू' में ही पहले इसका उपयोग होता था। चंपू एक ऐसी काव्य-रचना है, जिसके बीच-बीच में कुछ गद्य के टुकड़े होते हैं। या तो वर्णन करने के लिए या फिर दो बड़े-बड़े पद्य के टुकड़ों को जोड़ने के लिए चंपू में इसका प्रयोग होता था। इसका रूप अत्यधिक बनावटी, अनुप्रास-प्रधान और अलंकार-युक्त होता तथा जितना सम्भव मानव की प्रवीणता उसे बोल-चाल की भाषा से दूर कर सके उतना भिन्न रहता था। उसका अधिक-से-अधिक ग्राहकता उद्देश्य न होकर अलंकरण होता। साहित्य के माध्यम के रूप में गद्य की स्थिति इतनी गिरी थी कि छन्द-ग्रंथ और शब्दकोश भी पद्य में रचे जाते थे। इसी तरह कला और स्थापत्य का तकनीक, संगीत और नृत्य, चिकित्सा तथा अन्य वैज्ञानिक विषयों के प्रबंध भी पद्य में ही होते थे।

मुद्रण युग से पहले सहजतः गद्य की स्थिति बड़े कष्ट में थी। साहित्यिक और अन्य ग्रंथों की प्रतियाँ तैयार करना बहुत धीमा और श्रमपूर्ण साधन था। अक्सर पुस्तकें शौक़ की चीज़ें होतीं और सम्पन्न व्यक्ति ही उन्हें खरीद सकते थे। ऐसी स्थिति में जो व्यक्ति कुछ सीखना चाहे तो उसे सब कंठस्थ करना पड़ता था। याद रखने के लिए हमेशा गद्य की अपेक्षा पद्य अधिक आसान होता है। अन्य कारणों की अपेक्षा इसी एक कारण ने साहित्यिक माध्यम के रूप में गद्य के विकास पाने में बाधा डाली।

तेलुगु को लोकप्रिय साहित्यिक माध्यम के रूप में विकसित करने के लिए पहला गम्भीर प्रयास ईसाई पादरियों ने और अंग्रेज नागरिकों ने किया। महत्त्व की बात है कि इन्होंने ही मद्रास में पहला तेलुगु मुद्रणालय स्थापित किया। पहली बार १८५२ में प्रकाशित अपने 'तेलुगु-अंग्रेजी-शब्दकोश' की पीठिका में सी० पी० ब्राऊन कहते हैं—

> "तेलुगु लोगों के बीच इसका (मुद्रण) आरम्भ १८०६ के लगभग हुआ था, परन्तु १८३० तक बहुत कम प्रगति हो सकी। १८३५ के

लगभग कुछ तेलुगु और संस्कृत कविताएँ मद्रास में ही छापी गईं। इस समय हिन्दुओं द्वारा ही संचालित तेलुगु मुद्रणालयों से कई ग्रन्थ वाहर निकला करते हैं। अंग्रेजों के संचालन के अधीन मुद्रणालयों को छोड़कर आठ ऐसे मुद्रणालय काम कर रहे हैं।

पहले तेलुगु पुस्तक के मुद्रण की तारीख को १८३५ वताने में शायद श्री सी० पी० ब्राऊन ने भूल की है। हमें ज्ञात है कि विलियम ब्राऊन द्वारा संकलित A Vocabulary of Gentoo and English (गेंटो और अंग्रेजी का शब्द-संग्रह) इससे कहीं पहले १८१८ में प्रकाशित हुआ था। ए० डी० कैम्पवेल के द्वारा तैयार की गई पुस्तक—A Dictionary of the Teloogoo Language, Commnoly termed the Gentoo (तेलुगु भाषा का शब्दकोश जिसे साधारणतया गेंटू कहते हैं) १८२१ में प्रकाशित हुई थी। इसमें शक नहीं कि यह द्विभाषी पुस्तकें हैं, लेकिन या तो इन पुस्तकों के साथ-साथ या कुछ पहले एकाध तेलुगु पुस्तक अवश्य प्रकाशित हुई होगी। यह भी सम्भव है कि ऐसी प्रकाशित पहली तेलुगु पुस्तक वाइबिल का तेलुगु अनुवाद ही रही हो।

भाषा की क्षमता से दूर होने के कारण विदेशी मिशनरी और नागरिक अधिक काम न कर सके। उनके द्वारा प्रकाशित वाईबिल के गद्यानुवाद और स्कूली पाठय-पुस्तकें वड़े ही निचले स्तर की थीं। वंगाल में जैसे राममोहन और विद्यासागर ने इस कार्य को बढ़ाया, यदि वैसा यहाँ भी होता तो तेलुगु गद्य का शीघ्र और सम्पन्न विकास होता। दुर्भाग्य से उस महत्त्वपूर्ण क्षण में जिन व्यक्ति ने पदार्पण किया वह थे चिन्नय्य सूरि, जो विद्यादम्भी विद्वान् तो थे पर साथ ही प्रेरणाहीन मस्तिष्क वाले भी।

आदर्श गद्य प्रस्तुत करने की इच्छा से चिन्नय्य सूरि ने 'नीतिचंद्रिका' की रचना की। यह 'पंचतंत्र' और 'हितोपदेश' के पहले दो भागों पर आधारित थी। शाश्वत गद्य-शैली के नियम बनाने के लिए उन्होंने व्याकरण भी तैयार किया। प्रभावशाली दर्जा होने से वे मद्रास के प्रेसीडेन्सी कालेज के 'प्रथम तेलुगु पंडित' हुए। उनकी 'नीतिचंद्रिका' और 'व्याकरण' को पाठयपुस्तक के रूप में लिया गया। लगभग आधी शताब्दी तक यह दोनों ग्रंथ वारी-वारी से तेलुगु गद्य के विकास में विघ्न डालते रहे।

चिन्नय्य सूरि अपने समय के तेलुगु गद्य के नन्नय्य माने जाते थे। उनके घातक प्रभाव के अधीन बहुत-सा कुंठित, आर्ष और जबड़ा-तोड़ गद्य लिखा गया। वह बिलकुल कच्चे और खुरदरे मांस-जैसा था; बिना शब्दकोश की मदद के उसे पचा सकना सम्भव न था। कोक्कोंडा वेंकटरत्नम् ने सबसे खराव ढंग से

इस शैली की नकल की। इससे आधे कम, वीरेशलिंगम् का स्थान आता है। बिना यह जाने कि दूसरा व्यक्ति भी उसी कार्य में लगा है, दोनों ने संस्कृत के 'विग्रह तंत्र' और 'पंचतंत्र' के चौथे खण्ड का अनुवाद किया। इनमें से कोक्कोंडा का अनुवाद पहले मुद्रित हुआ। इसे पढ़ने के बाद वीरेशलिंगम् को जब लगा कि उनका अनुवाद इससे कहीं सरल और अच्छा है, तो उन्होंने उसे प्रकाशित कर दिया। इसके द्वारा दोनों के बीच शाही पैमाने पर लड़ाई शुरू हुई। धावा बोलने की इच्छा से कोक्कोंडा ने अपनी 'आंध्र भाषा संजीवनी' का परिशिष्ट निकाला 'हास्य वर्धिनी'। इसका प्रतिकार करने के लिए वीरेशलिंगम् ने अपनी पत्रिका 'विवेकवर्धिनी' का परिशिष्ट 'हास्य संजीवनी' के नाम से निकाला। हास्य-व्यंग्य की पत्रिकाएँ कहलाने पर भी यह दोनों एक-दूसरे के प्रति आग उगल रही थीं। थोड़े समय में ही हास्य का बहाना हटा दिया गया और वे आपसी लड़ाई के कटु स्तर तक उतर आए। पर एक ही तथ्य पर—मुख्य प्रश्न पर प्रकाश डालने में यह सफल रहा : "गद्य शैली के लिए क्या अच्छा है ?"

दोनों लेखकों के बीच सन् १८७४ में शुरू होकर कुछ महीनों तक चलने वाले इस वाक्-युद्ध को ही जनता देखती रही और अन्त में वीरेशलिंगम् को ही विजय मिली। 'विग्रहतंत्र' का उनका अनुवाद ही अधिक अच्छा माना गया। पाठ्यपुस्तक के रूप में मान्यता पाने के कारण जीवन-भर कभी न देखा हो इतने पैसे, एक हजार रुपये मिले। इस अचानक आवृष्टि ने उन्हें स्वतंत्रता का बोध कराया। जब उस रकम को उन्होंने हाथों में लिया तो जैसा कि 'आत्मकथा' में उन्होंने कहा है, उन्हें लगा कि इसके सहारे वे आराम से सरकारी नौकरी छोड़कर लेखकगिरी कर सकते हैं।

इसी समय के आस-पास विद्वान् वीरेशलिंगम् का बिम्ब पृष्ठभूमि में हटता जा रहा था और एक उद्देश्य को लेकर बढ़ने वाले व्यक्तित्व का बिम्ब उभरता जा रहा था। इस नये वीरेशलिंगम् के सामने, संचार माध्यम के रूप में उनके गद्य की प्रभावशालिता के बारे में गम्भीर शंकाएँ उठने लगीं। वह अपने से प्रश्न पूछने लगे : 'भाषा का उद्देश्य क्या है'; उत्तर पा सकने में उन्हें देर न लगी : 'भाषा का मुख्य उद्देश्य है विचारों का संचार। जितनी ही सरल और स्पष्ट भाषा का प्रयोग किया जायगा, विचारों का संचार उतना ही प्रभावोत्पादक होगा।'

'आत्मकथा' में वर्णित इस प्रश्न-उत्तर से तेलुगु साहित्य के इतिहास में एक नया मोड़ आता है। यदि किसी से पूछा जाय कि तेलुगु में आधुनिक लेखन का कब प्रारम्भ हुआ तो उत्तर देने वाले को यह बताने में ज़रा भी हिचकिचाहट नहीं होगी कि यह उसी दिन आरम्भ हुआ जिस दिन वीरेशलिंगम् ने भाषा के

उद्देश्य पर अपने से प्रश्न किया था।

जब वीरेशलिंगम् ने अपनी कृत्रिम और पुराने ढंग की गद्य-शैली की निरुपयोगिता अनुभव की तो उन्होंने पूरी तरह बिलकुल नई शैली को गढ़ना शुरू किया। जैसा कि हर प्रवर्त्तक के साथ होता है, वीरेशलिंगम् का पथ भी कई बाधाओं से भरा था। भाषा के प्रभाव और मुहावरे पर बिना किसी प्रकार का आघात पहुँचाए उन्हें अतीत से पूरी तरह नाता तोड़ना था। कृत्रिमता के दैन्य और नीरसता के गहरे सागर से एकदम बच निकलना था। ओछेपन के बिना स्पष्टता और पुरानेपन के बिना कुरकुरापन उन्हें लाना था। पुराने शब्दों को अर्थ देना था, पुराने प्रयोगों का नया महत्त्व बताना था और ज्यों-ज्यों आवश्यकता पड़ती जाय त्यों-त्यों नये शब्दों को गढ़ना था। सारांश में, नये युग की आवश्यकता की पूर्ति के लिए नये प्रसाधन गढ़ने थे। और अपने सामने उन्होंने जो यह कार्य रखा, उसमें उन्हें अधिकतर सफलता ही मिली, साथ ही शाश्वत ख्याति भी।

नई गद्य-शैली के निर्माता के रूप में मिली इस भारी सफलता को तुरन्त मान्यता मिली और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गई। उनकी दो पुस्तकों की समीक्षा करते हुए सन् १८७४ में 'दी हिन्दू' ने यह छापा था—

> "अब तक यह शिकायत रही है कि भारतीय साहित्य में अच्छी और उपयोगी पुस्तकों का अभाव है तथा जो थोड़ी बहुत हैं भी, वे साधारण पाठक के पल्ले नहीं पड़तीं, उनकी शैली कृत्रिम और कठिन होने के कारण साधारण योग्यता वाले विद्यार्थियों के लिए कठिन होती है। शब्द-जाल के मन्दिर में विचारों की बलि चढ़ाने की खामी, विशेषकर तेलुगु साहित्य में 'स्कूल बुक सोसाइटी' के प्रकाशनों द्वारा कुछ हद तक कम की जा रही है। हमें भय है कि यह पुस्तकें दूसरे प्रकार की गलतियाँ कर रही हैं। सरलता को ध्यान में रखकर अक्सर ये व्याकरण के मूल सिद्धांतों को ही त्याग देती हैं और कभी-कभी भाषा के रूप को ही त्याग देती हैं।... इसलिए, हमें यह कहते प्रसन्नता होती है कि कंदुकूरि वीरेशलिंगम् पंतुलु ने दोनों के बीच का मध्यम मार्ग अपनाया है। उनकी शैली रुचिर और मुहावरेदार है, न उलझी और कठिन है और न जड़ाऊदार और प्रभावहीन या दुर्बल है। उनकी रचनाओं में प्रवाह है, जोकि हमें 'स्कूल बुक सोसइटी' की अन्य पुस्तकों में नहीं मिलता।...हमने सोचा न था कि चिन्नय्यसूरि की 'नीतिचंद्रिका' के परिशिष्ट के रूप में लिखे जाने वाले 'विग्रहम्' के रचयिता अपने सारे सम्पर्क तोड़कर तेलुगु साहित्य में एकदम नया

पथ अपनायेंगे। इसलिए, हमें मानना पड़ेगा कि समीक्षा के लिए आई इन पुस्तकों को देखकर सानुकूल आश्चर्य हुआ है।"

अब भी अपने संयमित निर्णयों के लिए प्रसिद्ध दक्षिण के इस प्रमुख दैनिक पत्र ने लम्बी समीक्षा के अन्त में इस प्रकार लिखा है—

> "तेलुगु साहित्य के इतिहास के उस चित्र की हम अपने से कल्पना कर रहे हैं जब देश बड़े गर्व से (मौलिकता पर ज़ोर देते हुए) उस व्यक्ति की ओर देखेगा जिसने अपढ़ जनसमूह और अन्यमनस्क जनता के बीच अंग्रेजी शिक्षा के प्रति रुचि रखने वाले अपने देशवासियों से अलग खड़े होकर ऐसे समय में आधुनिक तेलुगु साहित्य का शिलान्यास किया जब अंग्रेजी का पढ़ना लाभकर था और भारतीय भाषाओं का पढ़ना हानिकर; और इसके साथ-ही-साथ भाषा में निहित शक्तियों का विकास कर उन्हें समन्वयन और श्रेष्ठता की ओर बढ़ाया।"

समाज-सुधार के संग-संग नये गद्य के निर्माण में, वीरेशलिंगम् 'दक्षिण के ईश्वरचन्द्र विद्यासागर' थे। दोनों ही क्षेत्र में, राममोहन राय के द्वारा दूसरे व्यक्ति (विद्यासागर) का कार्य हल्का कर दिया गया था। विद्यासागर के आने से बहुत पहले उन्होंने बंगाल में समाज-सुधार का सवाल अपने हाथ में लिया था और सती-प्रथा को रोकने के लिए आन्दोलन किया था। सामाजिक और धार्मिक नये विचारों के प्रवर्त्तन के लिए उन्होंने नये बंगला गद्य को सँवारा था, परन्तु विद्यासागर से उल्टे, वीरेशलिंगम् को बिलकुल शुरू से कार्य आरम्भ करना पड़ा; फिर भी उनकी सफलताएँ कोई कम नहीं थीं। कुछ समय के लिए यदि हम वीरेशलिंगम् के कार्य को नये तेलुगु गद्य के निर्माता तक ही सीमित करें और नीचे के उद्धरण में 'विद्यासागर' के स्थान पर 'वीरेशलिंगम्' और 'बंगला' के स्थान पर 'तेलुगु' शब्द बदल दें, तो टैगोर की इस प्रशस्ति से सहमत होना न्यायसंगत होगा—

> "विद्यासागर आधुनिक बंगला-गद्य के पहले सृजनशील कलाकार थे। यह सच है कि बंगला-गद्य ने अपनी साहित्यिक यात्रा विद्यासागर से आने से पहले ही आरम्भ कर दी थी; परन्तु वे ही पहले लेखक थे जिन्होंने हमें बताया कि बंगला भाषा का किस तरह कलात्मक ढंग से प्रयोग किया जा सकता है। उनसे पहले हमारी भाषा अनुशासन-हीन भीड़ के समान थी और जो लेखक के नियंत्रण से बाहर थी। उन्होंने उसे नियंत्रित किया और शब्दों को ठीक-ठीक सजाकर, विभिन्न पद्धतियों में उन्हें बाँटकर, अर्थ और ध्वनि का संयोग कर,

> उनके चलन में सरल प्रवाह देकर तथा उनकी उपयोगिता को काफ़ी हद तक बढ़ाकर, भाषा पर नया अनुशासन लगाया। विद्यासागर के इस महान् प्रवर्त्तन-कार्य के बाद, बंगला साहित्य के अनेक कमाण्डर, शब्दों की अनुशासित सेना को ज्ञान के अनेकानेक नये राज्यों में सफलतापूर्वक ले जा सकते हैं। परन्तु, इन नये पथों का गौरव, सबसे पहले हमें उन्हींको (विद्यासागर को) देना होगा जिन्होंने भाषा को कलाकार के अधीन कर नई राहों की सम्भावना प्रदान की।"

इसमें शक नहीं कि आज तेलुगु का गद्य अपेक्षाकृत सम्पन्न है; उसमें रंग है, लय है, अधिक विविधता है और ओज है। पर जो लोग, केवल बेवकूफ़ी से वीरेशलिंगम् पर नाक-भौं सिकोड़ते हैं और कहते हैं कि उनके गद्य में—एक स्तरता, प्रवाह और स्पष्टता—मात्र यही गुण हैं, वे भूल जाते हैं कि इन्हीं महान् प्रवर्त्तक के कंधों पर आज उन्हें खड़े हो सकने का सौभाग्य मिला है। दूसरे क्षेत्र में, विज्ञान के क्षेत्र में, न्यूटन-जैसी महानतम प्रतिभा में ही यह विनम्रता थी कि वह अपने पूर्ववर्ती व्यक्ति के प्रति उऋण होना स्वीकार करें। उन्होंने एक बार कहा था, "यदि मैं दकार्त्स से आगे देख सका हूँ तो वह केवल पहले के महान् लोगों के कन्धों पर चढ़कर ही।"

अनेक मोर्चों पर लड़ने वाले

वीरेशलिंगम् के साहित्यिक कार्य की महत्ता और उसके सर्वव्यापी प्रभाव का वास्तविक मूल्यांकन कर पाने के लिए, सुधारक के रूप में उनके कार्य की व्यापक जानकारी पाने के लिए हमें यहाँ रुकना पड़ेगा। सच देखें तो उनके कार्य के यह दोनों पक्ष एक-दूसरे के पूरक थे। सुधार के लिए उनके उत्साह ने उनकी रचनाओं को ज्वाला दी, उन्हें प्रज्ज्वलित होकर प्रकाश देने दिया, जबकि लेखन की सहजता, शक्ति और निपुणता ने सामाजिक एवं अन्य कुरीतियों के विरुद्ध अभियान चलाने के लिए आघात किया और जोरों से आगे ठेला।

जिन लोगों का जन्म लोकतांत्रिक संविधान और विस्तृत सामाजिक विधानों वाले स्वतंत्र भारत में हुआ है, उनके लिए यह समझ पाना कठिन है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में जिन-जिन शक्तियों के साथ वीरेशलिंगम् को संघर्ष करना पड़ा था वे कितनी बलवान और क्रूर थीं। उन दिनों स्त्रियों को पढ़ाना एक ऐसी कठिनाई थी जिसे कोई भी समझदार आदमी हाथ नहीं लगाना चाहता था; क्योंकि पत्नी को पढ़ाने का मतलब क्या यह न हुआ कि वह गुप्त पत्राचार द्वारा अनैतिक प्रेमयिों को अपनी ओर आकर्षित करे? बचपन में विवाह कर देना आम प्रथा थी, यहाँ तक कि गोद के बच्चों की भी शादी कर दी जाती थी। कभी-कभी तो गर्भस्थ शिशु के लिए सगाई निश्चित कर दी जाती थी। बालिका-वधू को खुले रूप में नीलाम की बोली पर खरीद लेना साधारण बात थी। बुढ़ापे के कारण लड़खड़ाता व्यक्ति भी बेशर्मी से दूसरी, तीसरी या चौथी पत्नी का वरण कर सकता था, बशर्ते वह किसी अभागिनी के पिता को काफी घूस दे सके। परंतु, इसके विपरीत, यदि किसी स्त्री के पति का देहान्त हो जाय तो वह किसी भी दशा में दुबारा विवाह नहीं कर सकती थी। भले ही वह बालिका अभी रजस्वला भी न हुई हो या शिशु अवस्था भी न लाँघी हुई बच्ची हो, उसे जीवन-भर विधवा का जीवन बिताना पड़ता था—सिर मुँडाकर, चूड़ियों व आभूषणों को निकाल डालकर, केवल सफेद धोती पहने और एक जून भोजन करके। विवाह की मंडी में दलाली करके जीविका चलाना, सम्मा-

नित व्यवसाय माना जाता था। लौंडी रखना बड़प्पन की निशानी थी। कोई भी उत्सव बिना नाचपार्टी के नहीं मनाया जा सकता था। विभिन्न जातियों और उपजातियों को पंक्ति में भोजन करना निषिद्ध था। समुद्र पार करने का अर्थ था सामाजिक बहिष्कार का जोखिम उठाना। कुछ अमुक मानव-प्राणियों को छूने से छूत लग जाती। खुले आम घूस दी जाती और ली जाती, यहाँ तक कि न्यायांग भी बुराई से ऊपर न था। सारांश यह कि उस समय का समाज आत्मा-हीन, सनकी, निर्दय और विकृत विचारों वाला था। तब दो पहलू के विचार और दो पहलू वाले व्यवहार का समय था—पुरुषों के लिए नैतिक मूल्यों का एक सेट तो स्त्रियों के लिए दूसरा, विशिष्ट वर्ग के लिए एक ढंग का व्यवहार तो बाकी के लोगों के लिए दूसरे ढंग का व्यवहार। उसका वातावरण ही दमनकारी था; सारे मुक्त विचारों और मानवीय प्रेरणाओं का वह गला घोंटती थी। गिरे हुए समाज और उसकी प्रतिकूलता तथा बर्बरता के विरुद्ध वीरेशलिंगम् को लड़ना पड़ा था।

समाज-सुधार का बीड़ा उठाने के लिए प्रेरणा-शक्ति, वीरेशलिंगम् को न तो किसी व्यक्तिगत कारण से और न ही किन्हीं तीखे कड़ुवे अनुभवों के कारण मिली थी। राजा राममोहन राय के बारे में कहा जा सकता है कि संभवतः बचपन में देखी किसी भयावह घटना के कारण, अमानुषीय सती-प्रथा के विरोध का बीड़ा उन्होंने बाद में उठाया। उनके बड़े भाई जगमोहन का जब असमय देहान्त हो गया तो उनकी पत्नी ने चिता पर ही अपने को जला डाला। ऐसा क़दम उठाने के लिए जबरदस्ती की बात तो दूर रही, उन्हें किसी ने सुझाया तक न था। अत्य-धिक आसक्ति होने के कारण, पति के देहान्त के बाद ही अपना जीवन भी समाप्त कर देने का उन्होंने निश्चय कर लिया। अनुमान लगाया जा सकता है कि सती-प्रथा को निर्मूल कराने की राममोहन की प्रतिज्ञा के लिए यह दोहरी दुःखद घट-नाएँ ही मुख्य रूप से ज़िम्मेदार हैं।

ऐसी ही एक प्रेरणा-शक्ति विद्यासागर के जीवन में भी कार्य करती-सी दिखाई पड़ती है। कलकत्ता के संस्कृत कालेज में पढ़ते समय उनके प्रोफेसर ने, जिनका वे बहुत आदर करते थे, पत्नी के देहान्त के बाद ही एक छोटी बालिका से तुरंत विवाह कर लिया। दूसरे विवाह के बाद वयस्क प्रोफेसर अधिक समय तक जीवित न रह सके, और उस बेचारी लड़की पर जबरदस्ती आ पड़े वैधव्य से विद्यासागर को गहरा धक्का लगा। इस दुःखान्त घटना के कुछ समय बाद ही सप्ताहान्त के लिए वे अपने गाँव गए। जब वे गाँव में थे तबपड़ोसी की नाज़ुक आयु वाली, वर्णनातीत सुन्दर बिटिया को बुलाकर आँसू भरे नैनों और भरे गले

से माँ ने उनसे पूछा, "तुमने जिन शास्त्रों को पढ़ा है क्या उनमें ऐसा कोई नियम नहीं है जो इस नन्हीं परी को वैधव्य से मुक्त करा सके ?"

ऐसे सीधे, व्यक्तिगत या पारिवारिक उलझनों वाले उदाहरणों का वीरेशलिंगम् के जीवन में कहीं पता नहीं चलता। केवल काल की भावावस्था और सामाजिक न्याय के जिन आदर्शों ने उन पर प्रभाव डाला था, वे ही ऐसा पग बढ़ाने के लिए उन्हें तैयार कर सकीं। इस तरह अपने पूर्ववर्ती या परवर्ती लोगों की अपेक्षा वे अधिक दृढ़निश्चयी और निरंतर संघर्ष करने वाले सुधारक थे। जिन कारणों के लिए उन्होंने आयुध उठाए, वे कई थे। उनका क्षेत्र था—एकेश्वरवाद से आधुनिकता तक। इसीके बीच आता है मूर्ति-पूजा-खण्डन, भूतों से मूर्खता-पूर्ण डर का मज़ाक उड़ाना, स्त्री-शिक्षा और विधवा-विवाह की पैरवी करना, नाचपार्टियों की निन्दा, अछूतों के साथ अच्छा व्यवहार, उच्चवर्गों के अभिमान का खण्डन, सरकारी पदों में घूसखोरी आदि का निवारण—तथा ऐसी ही ढेरों बातें। थोड़े में कहें तो, अधिक समझदार, साफ़ और न्यायपूर्ण जीवन के लिए उनका संघर्ष बहुत व्यापक था।

वीरेशलिंगम् की आरंभिक भिड़न्तें अंधविश्वासों के साथ हुईं और इनकी शुरूआत उनके अपने घर से हुई। केले का पेड़ यदि जड़ के पास ही फूलने लगे तो उसे तुरंत काट डालना चाहिए अन्यथा अनिष्ट होता है—इस बात की उन्हें चेतावनी दी गई थी। वीरेशलिंगम् ने उसे बढ़ने और फलने दिया और स्वाद से उनके फल भी खाये। उन्हें एक और चेतावनी दी गई थी कि यदि मधुमक्खी के छत्ते को शुरू में ही निकाल न दें तो इससे भी दुर्भाग्य ही प्रवेश करता है। उन्होंने छत्ते को बढ़ने दिया, तथा शहद इकट्ठा करके मज़े से खाया। जब प्रतिपदा के दिन नौकरी स्वीकार करने का सवाल आया तो माँ ने चीखना शुरू किया कि यह तो जान-बूझकर सर्वनाश मोल लेना हुआ। परंतु, वे अड़ गए कि उसी दिन कोरंगि जाकर हेडमास्टर का काम स्वीकार करेंगे। आनन्दपूर्वक जीवन का बाकी समय उन्होंने वहाँ बिताया और हर अंधविश्वास का सामना करते रहे। ऐसे विषयों में उन्हें अधिकतर सफलता ही मिलती रही। उदाहरण के लिए, मद्रास में रहते समय अपनी बग्घी के लिए एकदम मामूली दाम पर घोड़ा खरीद लाए। बोली बोलने के लिए और किसी की हिम्मत न पड़ी, क्योंकि उसके उलझे घुंघराले बालों से मालिक पर आपत्ति आने की संभावना मानी जाती थी। यही घोड़ा न केवल अच्छा सौदा साबित हुआ बल्कि मित्र और बचाने वाला भी। एक रात जब कोचवान अपनी सीट में ही सो गया तो इस घोड़े ने भी खाली सड़कों और खतरनाक नुक्कड़ों से स्वयं बचकर वीरेशलिंगम् को सकुशल घर

पहुँचाया।

उनका दूसरा मुकाबला नकली डाक्टरों से था। बेहोशी के दौरों को भूत का प्रकोप समझकर वीरेशलिंगम् की माँ एक-बाद-एक नकली डाक्टरों को बुलवातीं और ये लोग इनसे खूब पैसा ऐंठते जाते। वीरेशलिंगम् की उनसे कई बार झड़पें हुईं। सिर्फ़ एक कबीला ही औरों की अपेक्षा अधिक हैरान करने वाला था। जब चिलम पीने की लत के लिए पैसों की उसकी माँग पूरी तरह पूरी नहीं की गई तो उसने डराया कि वह अपने काले जादू से वीरेशलिंगम् को मार डालेगा। परंतु इसके विपरीत वही अपने बनाए जादू के डर के मारे सख्त बीमार पड़ गया और मौत के मुँह से उसकी रक्षा करने के लिए वीरेशलिंगम् को ही प्रयत्न करना पड़ा। कुशल सुधारक होने के कारण, निरंतर तर्क करके वे अपनी माँ को भूतों के डर से मुक्त कर सके। २२ सितंबर, सन् १८७८ को अपने बेटे को भारी दुःख में डाल मरने से दो वर्ष पूर्व उन्होंने भूत-पिचाशों के अस्तित्व में ही विश्वास करना छोड़ दिया था।

जिस दूसरे मोर्चे को उन्होंने शीघ्र ही सँभाला—वह था लैंगिक अनैतिकता का, जो न तो गुप्त विषय था और न ही लज्जा का। सब कुछ खुले रूप में, भौंड़े ढंग से और आम होता था। अतिरिक्त वैवाहिक सम्बन्धों का न रखना, पुरुष के लिए औरों के मन में अपने पुरुषपने के प्रति शंका उत्पन्न करने का मौका देने के समान था। इसलिए, हैसियत हो या न हो, लौंडी का रखना हर एक के लिए आवश्यक हो गया था। अच्छी तरह धाक बिठाने के लिए बेहतर तो यही था कि व्यक्ति दो या तीन लौंडियाँ रख ले। वकील और न्यायाधीश, डाक्टर और औषधि-विक्रेता, सरकारी अफसर और व्यापारी—किसी भी तबके का आदमी इस नियम का अपवाद न था। व्यापार करने के लिए मुलाकातें, चाहे सरकारी हों या ग़ैर सरकारी, अधिकतर इन रखैलों के घर पर ही तय की जातीं। चूंकि यह स्त्रियाँ एक ही जाति की—देवदासी जाति की होती थीं, उनके ज़िन्दादिल और लम्पट साथी नाचपार्टियों का आयोजन करते थे। इन दावतों में निमंत्रण पर आने वाले मेहमानों से आशा की जाती थी कि वे नाचने वालियों को पैसा देंगे। अगर कोई इस बात को नज़रअन्दाज़ करता तो उस पर कृपा दृष्टि न होती, खासकर अधिकारीवर्ग की। ये बुराइयाँ भले ही बहुत व्यापक फैली थीं एवं गहरी जम गई थीं, परन्तु वे वीरेशलिंगम् के मुकाबले का सामना न कर सकीं। इस सुव्यस्थित आन्दोलन का पूरा ब्यौरा जानने के लिए उनकी 'आत्मकथा' पढ़ना आवश्यक है।

किसी एक जाति को वेश्यापन, व्यवसाय-रूप में अपनाने के लिए विवश

करने की अमानुषिकता का भान वीरेशलिंगम् को था। परन्तु, अन्य समस्याओं में उलझे होने के कारण इनकी मदद कर सकने के लिए उनके पास समय न बच पाता। एक बार, जब वे अपने शहर में कुछ मित्रों से मिलने के लिए अपनी पत्नी के साथ निकले, तो उन्होंने देखा कि एक देवदासी को, जिसका चेहरा खून से लथपथ था, गुस्से में चूर उसका रखवाला बाल पकड़कर सड़क पर घसीटे जा रहा था। इस लहू-लुहान दृश्य से घबराकर, राज्यलक्ष्मी ने पति की ओर मुड़ते हुए पैरवी की; "इन बेचारियों को उबारने के लिए क्या हम कुछ नहीं कर सकते?" गहरी साँस लेते हुए वीरेशलिंगम् ने पत्नी से कहा, "सही है, पर अब एक नया संघर्ष आरंभ करने के लिए क्या हम लोग बूढ़े नहीं हो चले?" आगामी वर्षा ऋतु में, उनके मित्र और सहयोगी, सर रघुपति वेंकटरत्नम् ने, इसे अपने हाथ में लिया और उन्होंने देवदासियों को उस अन्धकूप से बाहर आने में मदद दी जिसमें वर्षों पड़े रहने के लिए पुराणपंथी समाज ने उन्हें विवश किया था।

वीरेशलिंगम् का व्यवस्थित आन्दोलन इससे पहले सरकारी स्तरों में घूस-खोरी भ्रष्टाचार के विरुद्ध था। अक्सर अकेले ही वे इसके विरुद्ध लड़ने खड़े हो जाते। राजमंद्री में आरंभ किये गए एक ऐसे ही संघर्ष के कई नाटकीय मोड़ों और चालों के बाद प्राप्त परिणाम इस प्रकार हैं—डिस्ट्रिक्ट मुन्सिफ के नौकरी से निलंबित किये जाने से लेकर, संभवतः अपने ही हाथों उनकी अचानक मृत्यु; उनके साथ मिलीभगत करने वाले सरकारी वकील की आत्महत्या, सरिश्तेदार की पदच्युति तथा अन्त में पागलखाने में भरती किया जाना और अभिलेखपाल (रेकार्ड कीपर) को अभियुक्त बनाकर दण्डित करना। इसके बाद वर्षों तक वीरेशलिंगम् के नाम से, जिस किसी का रेकार्ड गड़बड़ होता ऐसे हर सरकारी व्यक्ति के मन में आतंक छा जाता।

सबसे बड़े और लम्बी अवधि तक चलने वाले उनके संघर्ष थे—शिक्षा पाने के लिए नारी को अधिकार देना और विधवाओं का पुनर्विवाह। दूसरा संघर्ष तो अपने-आपमें एक गाथा है; इसलिए, अगले अध्याय में उसका वर्णन करने के लिए अलग रखकर, नारी शिक्षा-संबंधी उनके प्रवर्त्तनकारी कार्य का ही यहाँ हमें वर्णन करना होगा।

अपने-आप सोच सकने की क्षमता जब से वीरेशलिंगम् में आई, उन्होंने नारी-शिक्षा का ज़ोरदार समर्थन किया। उनका मत था कि समाज की धुरी और प्राण नारी को जब तक प्रशिक्षण से वंचित रखा जायगा तब तक ज्ञानदान और विकास की सारी बातें खाली और बेकार हैं। उन्होंने दृढ़ता से कहा कि जिस दिन से नारी का स्तर नीचा किया गया, उसी दिन से भारत का पतन आरंभ हुआ है।

इसी विषय पर समाचार-पत्रों में उनके आरंभिक लेख छपे थे। उन दिनों 'आंध्र भाषा संजीवनी' और 'पुरुषार्थ प्रदायिनी'—इन दो पत्रिकाओं में विवाद चल रहा था कि स्त्रियों को शिक्षा देना श्रेयस्कर है या नहीं। इस झगड़े में वीरेशलिंगम् अपने स्वभावगत उत्साह से कूद पड़े। यहाँ ध्यान रखने की बात है कि अन्य विवादों की तरह इसमें भी मुख्य प्रतिद्वन्द्वी फिर से कोक्कोंडा ही थे।

जब वीरेशलिंगम् ने बाद में स्वयं अपनी पत्रिकाएँ प्रकाशित कीं तो न केवल उन्होंने स्त्री शिक्षा के प्रश्न को विस्तृत किया, बल्कि कई प्रहसन तथा अपने विरोधियों के बारे में व्यंग्य-रचनाएँ भी प्रकाशित कीं। उन्हींकी जूती उन्हींके सर डालते हुए, उन्हींके तर्कों को उलटकर हास्य-व्यंग्य की गम्भीरता में पुरुषों की पढ़ाई से होने वाली हानियों को भी इंगित किया। पत्रकारिता के अतिरिक्त अपने अति प्रिय विषय को सशक्त करने के लिए उन्होंने मंच का भी पूरा-पूरा प्रभावोत्पादक उपयोग किया।

धवलेश्वरम् में हेडमास्टर का काम करते समय उनके कुछ मित्रों और उनका आदर करने वालों ने उनसे प्रेरणा पाकर, १८७४ में लड़कियों के लिए स्कूल खोला। आंध्र देश में अपने ढंग का शायद यह पहला विद्यालय था। अब तक लड़कियों के स्कूल केवल नाचने वाली लड़कियों के लिए थे, जहाँ उन्हें गुदगुदाने वाला संगीत व नृत्य तथा अन्य प्रलोभनकारी कलाओं की ऐसी शिक्षा दी जाती थी जो उनके पेशे के लिए बाद में काम आयें।

सात वर्षों के बाद राजमन्द्री में महिलाओं की शिक्षा के लिए स्कूल खोलने में वीरेशलिंगम् ने मदद की। इसी समय के आस-पास उन्होंने केवल स्त्रियों के सेवार्थ 'सती हित बोधिनी' नामक मासिक पत्रिका निकाली। केवल तीन साल ही चलने पर भी इस पत्रिका ने इतिहास का निर्माण किया। इसीके कॉलमों में (columns) उन्होंने 'सत्यवती' और 'चन्द्रमती' नामक कहानियों को धारा-वाहिक रूप से प्रकाशित किया तथा भारतीय और विदेशीय प्रसिद्ध नारियों की जीवनियाँ प्रकाशित कीं। इसमें उनकी लोकप्रिय स्वास्थ्य-गाइड, पद्य में नीति वाक्य, और केवल मात्र स्त्रियोपयोगी अन्य अनेक चीज़ें भी प्रकाशित कीं।

डटे रहने के अपने वैयक्तिक गुण के कारण ही, नारी शिक्षा का अभियान चालू करने से पहले, उन्होंने स्वयं अपनी पत्नी—राज्यलक्ष्मी—को पढ़ाया। पति के साथ रहने जब वह १८६१ में आई थीं तो एकदम निरक्षर थीं। उन्होंने इतने परिश्रम और लगन से पढ़ाया कि कुछ ही वर्षों में वह उन विधवाओं को पढ़ाने के लिए शिक्षिका के रूप में मदद करने लगीं जो उनकी सहायता, सुरक्षा में रहकर पुनर्विवाह करना चाहती थीं। अपने जीवन के बाद के वर्षों में राज्य-

लक्ष्मी ने कई भक्तिप्रधान गीत भी लिखे। भले ही इन गीतों में साहित्यिक विशिष्टताएँ न हों पर इतना तो स्पष्ट है कि औसत लोगों की अपेक्षा तेलुगु भाषा पर उनका बहुत अच्छा अधिकार था।

शिक्षा-शास्त्री की हैसियत से वीरेशलिंगम् का श्रम नारी-शिक्षा तक ही सीमित न था। वे जानते थे कि अपने को ऊँचा उठाने के लिए भारत में शिक्षा का प्रसार आम होना चाहिए, समाज के हर तबके में उसका विस्तार होना चाहिए। इसलिए, उन्होंने माँगकर, उधार लेकर तथा प्रलोभन देकर—यानी हर प्रकार से रुपया इकट्ठा करके कई प्रकार की शिक्षण-संस्थाएँ खोलीं, जिनमें वयस्क महिलाओं के लिए दिवसीय स्कूल, श्रमिकों के लिए रात्रि-कक्षाएँ तथा हरिजनों के लिए निःशुल्क विद्यालय शामिल थे।

सच्ची और सम्पूर्ण शिक्षा के बारे में उनके विचार अपने समय से बहुत आगे थे। उनके मतानुसार ऐसी शिक्षा जो मुक्त और निर्भय विचारों का पोषण न करे, जो नैतिक मूल्यों व सामाजिक न्याय का ज्ञान न कराए, जो व्यक्ति को अपने आदर्शों के लिए कष्ट सहने के लिए तैयार न कर सके, वास्तविक शिक्षा न थी। उनके मतानुसार सच्ची और सम्पूर्ण शिक्षा, जहाँ कहीं संभव हो, व्यवसाय-प्रेरित होती है और उसे ललित कलाओं की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। अपने विचारों को प्रत्यक्ष रूप देने के लिए उन्होंने 'विधवा गृह' की सदस्याओं के लिए दर्जी का काम करने वाली महिला नियुक्त कीं जो उन्हें सिलाई सिखा सके। एक ड्राइंग मास्टर नियुक्त किया जो उन्हें चित्रकला के आरंभिक पाठ पढ़ा सके और स्वयं उनकी पत्नी ने उन्हें संगीत सिखाने का भार लिया।

आरंभ में जब लोग स्त्री-शिक्षा का विरोध कर रहे थे तो उन्होंने लड़कियों के लिए अलग स्कूलों की स्थापना को प्रोत्साहित किया। अनुभवों से पता चला कि अध्यापिकाओं को स्त्रियों को पढ़ाने में आसानी पड़ रही है तो उन्होंने अधिक-से-अधिक महिलाओं को 'शिक्षक प्रशिक्षण स्कूलों और कालेजों' में (टीचर्स ट्रेनिंग स्कूल्स एण्ड कॉलेजेस्) प्रवेश पाने में मदद देनी शुरू की। जब स्त्री-शिक्षा का विरोध सीमा पार कर गया तो उन्होंने सहशिक्षा का प्रयोग आरम्भ किया। आंध्र देश में वे ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने राजमन्द्री में अपने खोले हाईस्कूलों में लड़कियों को प्रवेश देना शुरू किया। उनका विश्वास था कि युवकों में स्त्रियों के प्रति आदर भाव जगाने के लिए यह क़दम आवश्यक है।

दूसरे क्षेत्रों के समान ही इस क्षेत्र में भी विद्यासागर को अपना आदर्श मान-कर, वीरेशलिंगम् ने हर दिशा में शिक्षा-प्रसार करने के लिए निरंतर प्रयास किया। इस क्षेत्र में उन्हें सबसे बड़ी सफलता राजमन्द्री क 'थीइस्टिक हाई स्कूल'

के रूप में मिली, जिसकी स्थापना के लिए वे ही मुख्य रूप से ज़िम्मेदार थे। उनके प्रति आदर के कारण पिठापुरम् के महाराजा ने स्कूल के भवन, फ़र्नीचर और अन्य साधनों के लिए ७०,००० रुपयों की भारी रकम दान दी। महाराजा ने एक और क़दम उठाया। कार्यकारिणी समिति पर ज़ोर डालकर स्कूल का नामकरण वीरेशलिंगम् के नाम पर किया और इसे उन्होंने वीरेशलिंगम् की जानकारी के बिना किया।

लम्बी छलाँग

विशाखापट्टनम्-निवासी, प्रसिद्ध विद्वान् और महामहोपाध्याय, 'परवस्तु वेंकट रंगाचार्युलु' में सन् १८७५ में विधवाओं के पुनर्विवाह के पक्ष में तेलुगु में इस विषय पर पहली पुस्तिका प्रकाशित की। अपने आरंभिक झगड़ों को भुलाते हुए कोक्कोंडा वेंकट रत्नम् ने, मद्रास से लिखते हुए वीरेशलिंगम् का ध्यान तुरंत इस ओर आकृष्ट किया और कहा कि इस विषय पर नवीनतम विचार रखने के बावजूद उन्होंने इसे निंदापूर्ण पाया होगा। वेळ्ळारी के 'धर्मावरम् कृष्णमाचार्युलु' ने भी, जिन्होंने बाद में प्रसिद्ध नाटककार के रूप में ख्याति पाई, इसी विचार-धारा को अपनाया। ठीक पता तो नहीं है कि वीरेशलिंगम् ने इनका क्या उत्तर दिया, और दिया भी होगा तो क्या दिया ?

'रंगाचार्युलु' की पुस्तिका के प्रकाशन से कुछ समय पहले से, बलात् लादे जाने वाले अन्याय और उसके कारण दुःख और अनैतिकता की ओर ले जाने वाली स्थितियों के बारे में, वीरेशलिंगम् गंभीरतापूर्वक सोच रहे थे। जैसा कि 'सर रघुपति वेंकट रत्नम्' ने लिखा है, "यह बड़ा विशाल सामाजिक प्रश्न था—हर छः हिन्दू स्त्रियों के पीछे एक विधवा का सवाल था।" इसने वीरेशलिंगम् के सामने भारी चुनौती प्रस्तुत की। फिर भी, वे इसे स्वीकार करने के लिए आगा-पीछा कर रहे थे। अपने कुछ साथियों के संग हुए अनुभव न बहुत सुखकर थे, और न ही विश्वास दिला सकने वाले। जैसे ही ख़तरे के चिह्न दिखाई देने लगे तो ये बातों के वीर चूहों की तरह अपने-अपने सामाजिक ओहदों की ओर भाग खड़े हुए। और मुट्ठी-भर साथी जो अब भी उनका साथ दे रहे थे, बड़ी-बड़ी जोखिमों के आगे जाने कैसा बर्त्ताव करें ? जल्दबाजी करने से सफलता के पथ में रोड़े न पड़ें ?

इस प्रकार जब मन में वे वस्तुस्थिति की नाप-जोख कर रहे थे, तो मद्रास के कुछ प्रमुख नागरिकों ने, जिनमें दीवान बहादुर आर० रंगनाथ राव और पी० चेंचल राव थे, १८७४ में 'विधवा पुनर्विवाह संघ' का प्रारंभ किया। वीरेशलिंगम् ने बड़ी आतुरता से प्रतीक्षा की थी कि वे उनसे इस विषय पर

सम्पर्क स्थापित करेंगे, पर उन लोगों ने अनदेखा कर दिया। इससे उन्हें धक्का लगा, पर उन्होंने अनुकूल समय की प्रतीक्षा की। बड़ी धूमधाम से आरंभ हुए मद्रास के इस संघ को बिना चूँ-चपड़ किये बोरिया-बिस्तर गोल करने में दो वर्ष भी न लगे। इसने वीरेशलिंगम् को और अधिक आश्वस्त कर् दिया कि जब तक उनके पास कम-से-कम आधे दर्जन साहसी और ईमानदार सहयोगी न हों, तब तक उन्हें खुलकर इस दिशा में कोई क़दम नहीं उठाना चाहिए।

१८७८ का साल आते-आते उन्हें लगा कि अब उनके पास आधे दर्जन के लगभग विश्वसनीय व्यक्ति हैं। लेकिन, उन्होंने प्रतीक्षा की कि उनके साथी ही पहला क़दम उठायें और उन पर ज़ोर दें कि वे ही इसका नेतृत्व करें। सितंबर के पहले सप्ताह में जब साथियों ने ऐसी भूमिका अदा की तो वे सितंबर की आठ तारीख को राजी हो गए कि 'संघ संस्करण समाजम्' (समाज सुधार संघ) की स्थापना की जाय। उसी दिन दक्षिण के समाज-सुधार-कार्य ने प्रगति की ओर लंबी छलाँग भरी।

पुराने धर्मशास्त्रों, मनु के विधान-ग्रंथ, गौतम, पाराशर, आपस्तंब आदि में विश्वास करने वालों में वीरेशलिंगम् न थे। उनका तर्क था कि हर युग अपने सामाजिक विधान नये सिरे से बनाए। अपरिवर्तनीय विधान केवल प्रकृति के होते हैं, मानव-समाज के नहीं। उनका दृढ़ मत था कि चाहे कोई समाज हो, पर यदि वह युग की धारा के अनुसार अपने मूल ढाँचे और उसे नियंत्रित करने वाले सिद्धांतों को नहीं बदलता, तो वह अवश्यमेव निष्क्रिय हो जायगा। फिर भी उन्होंने विचार किया कि लोगों के काफ़ी बड़े भाग को अपने दृष्टिकोण के अनुरूप बदलने के लिए पुराने शास्त्रों से ही उन्हें विधवा-पुनर्विवाह के लिए अकाट्य सम्मति प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। 'राघवाचार्युलु' की पुस्तिका में इस विषय पर विस्तार से लिखा न था। यह सिद्ध करने के लिए कि शास्त्रों में विधवा को पुनः विवाह करने की अनुमति दी गई है, विद्यासागर ने शास्त्रों से अध्याय-के-अध्याय उद्धृत किये थे और इस बात को वे जानते थे, परंतु उस सामग्री का उपयोग न कर सके। या तो वह आसानी से प्राप्त न हो सकी, या फिर वह बंगला भाषा में थी, जो उनके लिए परिचित भाषा न थी। अतः जो भी थोड़ी-सी सामग्री वहाँ प्राप्त थी उसीका उन्हें सहारा लेना पड़ा। इसकी मदद से उन्होंने एक भाषण तैयार किया और १८७९ की तीसरी अगस्त की एक सभा में उसे पढ़ा। इससे पुराणपंथी स्तरों पर जैसे बम फूट पड़ा और उसकी प्रतिध्वनियाँ आंध्र देश के सुदूर कानों तक गूँज उठीं। मुश्किल से यह गूँज थम पाई थी कि उन्होंने अक्तूबर की १२ तारीख को दूसरा बड़ा युद्ध-यान विस्फोटित

किया। कोक्कोंडा वेंकट रत्नम्, वेदम वेंकट राय शास्त्री, दासु श्रीरामुलु और ऐसे कई विद्वानों ने, जो पुराने युद्ध-दल का प्रतिनिधित्व करते थे, चुनौती स्वीकार की और जवाबी गोलाबारी शुरू की। चारों ओर बड़ी-बड़ी तोपें गरज रही थीं।

कुछ और गोला-बारूद जमा करने के लिए वीरेशलिंगम् ने कलकत्ता, बम्बई और बनारस की पुस्तकों की दुकानों में धर्मशास्त्रों की प्रतियों के लिए आर्डर दिया। इनकी सहायता से उन्होंने एक तगड़ा मामला तैयार किया तथा राजमन्द्री, काकिनाडा आदि कुछ शहरों के कई सार्वजनिक वाद-विवादों में भाग लिया। विरोधी दल जब उन्हें तर्क द्वारा हरा न सके तो उन लोगों ने गंदी गालियाँ दीं। वे कई दंगे शुरू कराने लगे और बाधक चालें चलने लगे। उन लोगों के तूफ़ानी आंदोलनों के समय दो बार—एक बार राजमन्द्री में और दूसरी बार काकिनाडा में—वीरेशलिंगम् को पीटने का प्रयत्न किया गया। वर्षों बाद मद्रास में भी उन्हें ऐसी ही एक स्थिति का सामना करना पड़ा था। इन सारे संकट के समयों में उनके विद्यार्थी ही उनकी रक्षा के लिए खड़े होते थे। यदि ये विद्यार्थी ही उनके चारों ओर रक्षा-घेरा न डाला करते तो अपने लक्ष्यों की पूर्ति में उन्हें इतनी अधिक सफलता न मिलती। अपनी 'आत्मकथा' में उन्होंने इस मदद के लिए बहुत आभार प्रकट किया है।

समाचार पत्रों तथा मंच से किये गए दो वर्षों के निरंतर आन्दोलन के बाद वीरेशलिंगम् को लगा कि अब यदि इसके साथ-साथ प्रत्यक्ष कार्य न किया जाय तो यह सारा-का-सारा कार्यक्रम निस्तेज होकर खत्म हो जायगा। कई क्षेत्रों से लुके-छिपे उनके पास खबरें आईं कि कई विधवाएँ विवाह करने के लिए उत्सुक हैं और इसी तरह कुछ युवक भी विधवाओं से विवाह करने के लिए तैयार हैं। कमी थी तो मात्र आर्थिक सहायता की, जिसके लिए काकिनाडा के पैडा रामकृष्णैया ने वचन दिया था। इस 'पाप कर्म' के लिए उन्हें भगवा पहनकर भस्म रमानी पड़ी थी। डरपोक होने पर भी, वह भले व्यक्ति थे और परोक्ष रूप से व अन्य अवसरों पर उन्होंने ३०,००० रुपये इस कार्य की मदद के लिए भिजवाए।

जैसे ही आर्थिक सहायता के बारे में वीरेशलिंगम् ने अपने बालचरों को एक किशोरी-विधवा की माता के पास भेजा, जिसके बारे में खबर थी कि वह अपनी बेटी को बलात् आ पड़े वैधव्य की जीवित समाधि से उबारने के लिए उत्सुक थी। सारी कठिनाइयों का सामना करके सुदूर कोने के उस गाँव में गये जहाँ प्रवेश कर सकना भी संभव न था। थका देने वाली कई मीलों की यात्रा

करके वे उस लड़की को सकुशल राजमन्द्री ले आए। विशाखपट्टनम् में पुलिसमैन का काम करने वाले वीरेशलिंगम् के एक भूतपूर्व विद्यार्थी की पत्नी का देहान्त हाल ही में हुआ था। अतः आंध्र देश के उच्च वर्गों से प्राप्त प्रथम विधवा के साथ विवाह करने के लिए उसे चुना गया। (आम धारणा के विपरीत आंध्र की जाति-प्रथा के निचले वर्गों में विधवा-विवाह के लिए हमेशा ही अनुमति रही है।)

एक ओर अप्रत्याशित आनन्दोल्लास और दूसरी ओर कड़े विरोध के बीच १८८१ की ११ दिसंबर को यह विवाह सम्पन्न हुआ। आखिरी क्षण तक इसे रोकने के लिए हर संभव प्रयत्न किया गया था। कुछ साहसी रूढ़िवादियों ने उनके घर के भीतर घुसना चाहा, लेकिन द्वारों पर तथा घर तक आने वाले सारे रास्तों पर तैनात विद्यार्थियों और पुलिस वालों ने उन्हें मार भगाया। अपने प्रयत्नों में इस प्रकार हारने और निराश होने के कारण उन्होंने बदला लेने की ठानी तथा कोई ३५ परिवारों को बिरादरी से अलग कर दिया।

इस विशेष अवसर के अनुकूल ही, बड़ी धूमधाम से विवाह सम्पन्न हुआ। बैण्ड वालों को डराने के प्रयत्नों को व्यर्थ करने के लिए अधिकांश बैण्ड वालों को नाइयों में से चुना गया और हर एक को अच्छी ख़ासी रकम फीस के रूप में दी गई। कुछ ब्राह्मण रसोइयों और पानी भरने वालों को भी ऊँची फीस, स्थायी नौकरी और कम सूद पर उधार देने के प्रलोभन से वश में किया गया। इस सारे आमोद-प्रमोद में केवल एक बात ने ही वीरेशलिंगम् के मन को दुखाया—वह था नाचपार्टी का आयोजन। विवाह का खर्च उठाने वाले रामकृष्णय्या के सहारे, वीरेशलिंगम् के सहयोगियों ने बहस की कि बिना नाचपार्टी के इतने बड़े समारोह का सारा मज़ा किरकिरा हो जायगा। कोई और चारा न होने के कारण वीरेशलिंगम् को इसे स्वीकार करना पड़ा। पर उन्होंने साफ-साफ कह दिया कि किसी भी हालत में नाचपार्टी उनके घर के पास भी न आय।

दूसरा विधवा-विवाह इसके बाद शीघ्र ही सम्पन्न हुआ। वह पहले विवाह के चार दिन बाद ही हुआ। परन्तु, तीसरा विवाह एक वर्ष बाद ही—२२ अक्तूबर १८८२ को सम्पन्न हो सका। पहले विवाह की तरह, दूसरे विवाहों के लिए भी विधवा बालिका से सम्पर्क स्थापित करके उसे उसके सतर्क संरक्षकों के बीच से 'मुक्त कराने' के लिए कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। क़रीब बीस विवाहों के होने तक, हर आने वाला विवाह बुद्धि-कौशल की कसौटी बन रहा था; फिर भी यह विवाह नियमित विराम के बाद सम्पन्न होते गए। वीरेशलिंगम् ने १८९२ में अपना निवास अस्थायी रूप से मद्रास कर लिया

था। तब तक इन विवाहों की संख्या २२ तक पहुँच गई। उनके मद्रास-निवास-काल में दस और शादियाँ हुईं, बाकी बाद में हुईं। इस सुधार को व्यापक आधार देने के लिए वीरेशलिंगम् ने या तो स्वयं, या फिर अपने मित्रों के द्वारा दूर-दूर के स्थान—जैसे विजयनगरम् और वेळ्ळारी, गुंटूर और बंगलौर में कुछ विधवा-विवाह सम्पन्न कराए। इसे स्थायित्व देने के लिए पहले मद्रास में, फिर राजमन्द्री में उन्होंने 'विधवा गृह' (विडोज़ होम) चालू कराए।

समाज-सुधारक के रूप में वीरेशलिंगम् की विराट् सफलता में जिस सहयोगी का सबसे अधिक योगदान रहा है, वह थी उनकी पत्नी। सारे समय समाज के साथ लोहा लेने वाले, रूढ़ियों के कट्टर विरोधी पति का पूरी चेतनता के साथ साथ देना कोई सरल काम न था। वीरेशलिंगम् में प्रज्वलित हो रहा न वह विश्वास, और न वह उत्साह जिसने उन्हें पूरा सहारा दिया था, उनकी पत्नी के स्वभाव का अंश था। उनकी सबसे अधिक शिक्षा भी सीमित ही थी। राज्यलक्ष्मी की आरंभिक पृष्ठभूमि एकदम परंपरावादी थी। स्वभावतः वह पीछे हटने वालों में थीं। न उन्होंने प्रतिष्ठा की कामना की थी, न कीर्ति की। फिर भी वे, उनके संग अटल चट्टान-सी होतीं और उनके हर कहे और किये का हँसमुख चेहरे से साथ देतीं।

एक प्रकार से देखें तो जो भार राज्यलक्ष्मी ने उठाया था वह बहुत वज़नी था। आश्रय माँगने वाली युवा, बेसहारा विधवाओं को शरण देना, वीरेशलिंगम् के लिए राजलक्ष्मी की अपेक्षा तुलनात्मक ढंग से अधिक सरल था, क्योंकि राज्यलक्ष्मी को उन्हें उसी तरह खिलाना-पिलाना, कपड़े लत्ते देना और सांत्वना देना पड़ता था जैसे वह उन लोगों की माँ हो। सामाजिक बहिष्करण के कारण रसोइये बिना किसी पूर्व सूचना के काम छोड़ देते। अन्य गृह-व्यवस्था-संबंधी सहायता भी इसी हद तक विश्वास करने लायक न होती। बिना किसी मदद के उन्हें सदैव बढ़ते 'गृह' का भार सँभालना पड़ता था जिसके सदस्य विभिन्न स्थानों से आए हुए विचित्र व्यक्ति होते। कल्पना की जा सकती है कि यदि इन लोगों की प्रकृति जटिल न भी रही हो पर वे विपरीत स्वभाव वाली थीं। अपने पर तरस खाने वाली एक विधवा ही औरों का धीरज खोने के लिए पर्याप्त होती है, फिर तो उन्हें ऐसी दर्जनों विधवाओं को सँभालना पड़ता था। यह भले ही विचित्र लगे, पर जिन-जिन विधवाओं की उन्होंने शादी करवाई थी, उनकी माँगें लम्बी-चौड़ी, विचित्र और निरंतर हुआ करतीं। पारिवारिक जीवन की स्थापना के लिए दी गई आरंभिक सहायता से संतुष्ट न होकर, बहुधा वे मासिक-वृत्ति तथा हर शिशु-जन्म पर अतिरिक्त सहायता की माँग किया करतीं। जिन

लोगों के लिए इस प्रसिद्ध दम्पति ने अपमान सहा, तकलीफ़ उठाई और त्याग किया, उन्हींसे अक्सर उन्हें निम्नस्तरीय कृतघ्नता मिलती और भद्दी गालियाँ सुननी पड़तीं। यदि कोई कम साहसी स्त्री और कम श्रद्धा वाली पत्नी होती तो वह अपने स्पष्ट व्यवहार व श्रद्धा के पथ से डगमगा जाती। वीरेशलिंगम् मर्यादाशाली और उदार व्यक्ति थे, पर अपने मौन और शालीन व्यवहार में राज्यलक्ष्मी अधिक मर्यादाशाली और उदार थीं।

आधुनिक तेलुगु पत्रकारिता के निर्माता

'डेन्जरस इस्टेट' में फ्रेन्सिस (बाद में लार्ड विलियम्स) ने डैनियल डेफ़ो के बारे में यों लिखा है—

> "जहाँ तक किसी साधारण व्यक्ति के बारे में कहा जा सकता है, यह असाधारण व्यक्ति, जो आधुनिक पत्रकारिता का निर्माता है,···बाद में···जहाँ तक किसी के बारे में कहा जा सकता है, अंग्रेजी उपन्यास का जनक बना···"

वीरेशलिंगम् भी, जहाँ तक किसी व्यक्ति के बारे में कहा जाद्ँ सकता है, आधुनिक तेलुगु पत्रकारिता के निर्माता और तेलुगु उपन्यास के जनक थे। वह तेलुगु के सर्वप्रथम नाटककार, व्यंग्यकार, जीवनीकार, आत्मकथाकार, साहित्य के इतिहासकार, विज्ञान-लेखक और स्त्रियों और बच्चों के साहित्य के रचनाकार थे।

'डेफ़ो' और वीरेशलिंगम् के बीच जो एक और आम बात थी 'स्पष्ट मांसल' गद्य के प्रति उनकी 'लगन'। उत्तम शैली के बारे में डेफो की व्याख्या का उन्होंने शब्दशः समर्थन किया होता। डेफ़ो ने कहा था—

> "अगर कोई मुझसे पूछे कि भाषा की उत्तम शैली के बारे में मेरा क्या मत है, तो मैं उत्तर दूंगा कि जब व्यक्ति कोई पाँच सौ लोगों से बात करना चाहता है, जो विभिन्न योग्यताओं के हैं, मूर्ख हों या माने हुए पागल, तो उसकी भाषा सबकी समझ में आनी चाहिए।···"

दूसरी अन्य बातों में उनमें ज़मीन-आसमान का अन्तर था। 'डेफो' से ठीक उल्टे, जो कि बिना किसी झिझक के गुप्तचर का काम कर सकता था, वीरेशलिंगम् का अपना चरित्र था—ध्येय के लिए जीने वाले का। पत्रकार के रूप में उनमें था—'विलियम कॉबेट' की तरह ऊँचे दर्जे का साहस 'डब्ल्यू टी० स्टीड' की तरह योद्धागत उत्साह, 'एच० डब्ल्यू० मेसिंगघम' की तरह ईमानदारी 'जे० ए० स्पेन्सर' का औचित्य और बाहरी हस्तक्षेप के प्रति असहनशीलता, तथा 'सी० पी० स्कॉट की तरह समर्पण। लंदन और मैन्चेस्टर-जैसे बड़े नगरों में रहकर उन्होंने

काम नहीं किया, बल्कि राजमन्द्री-जैसे छोटे शहर में काम किया। अर्थ की लागत और मशीनों की दृष्टि से प्रसाधन कम थे, फिर भी इन कठिनाइयों के होते हुए भी सम्पादक के रूप में वे उतने ही अधिकार वाले और प्रभावशाली थे जितना कि विश्व में सर्वोत्तम व्यक्ति हो सकता है।

जिस प्रकार डेफ़ो की 'रिव्यू' (समीक्षा) पहली अंग्रेजी पत्रिका न थी, उसी प्रकार वीरेशलिंगम् की पत्रिका 'विवेकवर्धिनी', तेलुगु की प्रथम पत्रिका न थी। कुछ अनुसंधानकर्त्ताओं के अनुसार प्रथम पत्रिका का श्रेय 'सत्यदूत' नामक मासिक पत्रिका को जाता है, जिसे १८३५ में ईसाई पादरियों ने शुरू किया था और जो 'वेलकारी क्रिश्चियन' एसोसियेशन, द्वारा प्रकाशित की जाती थी। हमें अनुमान लगाना पड़ता है कि यह मद्रास में ही छापी जाती थी, क्योंकि तब तक किसी अन्य स्थान में तेलुगु का मुद्रणालय न था। 'वृत्तांतिनी' (१८४०) और 'वर्तमान तरंगिनी' (१८४२) पत्रिकाएँ इसके बाद प्रकाशित होने लगीं। उनका प्रकाशन-स्थान मद्रास था, और जैसा कि उनके नामों से पता चलता है वे समाचार प्रसारण करने वाली पहली पत्रिकाएँ थीं। 'हितवादी' (१८६२), 'श्रीयक्षिनी' (१८६३), 'सुजन रंजनी' (१८६४), 'तत्त्वबोधिनी' (१८६४), 'आंध्र-भाषा'-संजीवनी' (१८७१) जैसी पत्रिकाएँ अक्तूबर १८७४ में 'विवेक वर्धिनी' के प्रकाशन से पहले इस क्षेत्र में थीं। यह महीने में एक बार प्रकाशित होती थीं, चार पृष्ठ होते थे; और जैसा कि सम्पादक-प्रकाशक ने अपनी 'आत्मकथा' में कहा है, ये—'चार बड़े—आकार' के पृष्ठ होते थे। सरकार द्वारा चालित एक ही मुद्रणालय होने तथा राजमंद्री में छपाई की कोई और व्यवस्था न होने के कारण, वीरेशलिंगम् ने मद्रास में 'कोक्कोंडा' के 'संजीवनी प्रेस' में छापना शुरू किया। पर जब उन्होंने देखा कि निश्चित समय पर प्रकाशन करने में मुद्रणालय उन्हें धोखा दे रहा है, तो उन्होंने मद्रास में ही एक दूसरे प्रेस—'श्रीधर प्रेस' में अपनी पत्रिका हटा ली। इस नई योजना के साथ ही उन्होंने पृष्ठों की संख्या बढ़ाकर अठारह कर दी। उस पर कवर जोड़कर उसकी बाह्याकृति बदल दी। उद्देश्य के रूप में उन्होंने तेलुगु महाभारत से प्रसिद्ध पंक्ति उद्धृत की जो कि, संयोग की बात है कि कन्फूसियस के कथन से प्रायः मिलती है : "जिसे तुम अपने लिए करवाना नहीं चाहते, उसे दूसरों के लिए न करो!"

गाँव के स्कूल-मास्टर के लिए—क्योंकि अभी भी वे धवलेश्वरम् में पढ़ा रहे थे—मासिक पत्रिका का चलाना, साहसिक कार्य ही था। आत्मविश्वास तथा अपने लक्ष्य के बारे में नव जागृत चेतना, जो भले ही अभी कुछ-कुछ अस्पष्ट थी, उन्हें आगे बढ़ाए जा रही थीं। परन्तु, पत्रकारिता का पूर्व-अनुभव विशेष लाभ-

ध्यान दिये बिना वे निरन्तर वार करते रहे।

जैसी संभावना अपेक्षित है, उन्हें फौज़दारी और दीवानी कई लिखित आरोपों को झेलना पड़ा। परन्तु इन सबसे वह एकदम पाक-साफ़ निकल आए। कुछ कानूनी लड़ाइयाँ बड़ी कष्टकर थीं व देर तक चलती रहीं। यदि भाग्य ने उनका साथ न दिया होता तो, कम-से-कम एक मामले में उन्हें नुकसान पहुँच सकता था। डिस्ट्रिक्ट मुन्सिफ और उसके साझीदारों, सरकारी वकील और दो अन्य लोगों पर लगाए घूसखोरी के अभियोग को सिद्ध करने के लिए वकील की रद्दी की टोकरी के बेकार कागज़ जैसे ईश्वर का वरदान सिद्ध हुए। उनका सफल उपयोग करने से पहले उन्हें कई दिन और कई रात इन्हें सुलझाने में लगे, जैसे कोई गोरखधंधा हो। रद्दी की टोकरी से जमा किये फटे टुकड़ों को एक-एक फिट करना और चिपकाना पड़ा। वर्षों बाद दो प्रसिद्ध भारतीय सम्पादक, 'अमृत बाजार पत्रिका' के मोतीलाल घोष और 'द ट्रिब्यून' के नगेन्द्रनाथ गुप्त ने रद्दी कागज़ की टोकरी के सहारे महान् ऐकान्तिक समाचार (स्कूपस्) तैयार किया था।

'विवेकवर्धिनी' की बढ़ती लोकप्रियता से अपना मुद्रणालय स्थापित करने की आवश्यकता उत्पन्न हुई। धवलेश्वरम् में सम्पादकीय कार्यालय और मद्रास में किराए पर लिये मुद्रणालय से समन्वयन का कार्य दिन-पर-दिन कठिन होता जा रहा था। इसलिए, कुछ साथियों का सहयोग प्राप्त करके वीरेशलिंगम् ने १८७५ में निश्चय किया कि उनकी साझेदारी में राजमन्द्री में अपना मुद्रणालय स्थापित करें। टाइप, मशीन और दूसरे प्रसाधन खरीदने के लिए उन्होंने गर्मी की छुट्टियों में मद्रास की यात्रा की। उन दिनों राजमन्द्री को मद्रास से रेल द्वारा जोड़ा नहीं गया था। काकिनाडा तक थल मार्ग से जाकर वहाँ से जहाज द्वारा मद्रास जाना पड़ता था। यह उनकी पहली यात्रा थी—समुद्र की और महानगरी की भी। उनकी कीर्ति उनसे पहले ही पहुँच चुकी थी, और वहाँ पहुँचने पर उनके प्रशंसकों द्वारा उनका हार्दिक स्वागत किया गया। अनेक दावतें दी गईं और समारोह आयोजित किये गए। उनमें से बहुतों ने 'विवेकवर्धिनी' के लिए वार्षिक चन्दा भी दिया।

अपना स्वयं का मुद्रणालय होने से, पत्रिका ने काफ़ी विकास किया, तथा जुलाई १८७६ से वह पाक्षिक कर दी गई। 'हास्य संजीवनी' मासिक परिशिष्ट के रूप में जोड़ी गई। वास्तव में इसका उद्देश्य 'कोक्कोंडा' की 'हास्यवर्धिनी' का मुँहतोड़ जवाब देना था, परन्तु घिसी-पिटी रीतियों और विचित्र लोगों का मज़ाक उड़ाने तथा अवहेलना करने के लिए पत्रिका के मालिक-सम्पादक के लिए यह

बहुत उपयोगी सिद्ध हुई। एक साल से कुछ अधिक समय बाद अपना स्वतंत्र अस्तित्व खोकर यह 'विवेकवर्धिनी' का ही अंग भले बन गई परन्तु यही सर्वाधिक प्रतीक्षित अंग था। व्यंग्यकाव्यों, प्रहसनों, व्यंग्य लेखों, स्वाँगों और निंदोपाख्यानों से हँसी-मज़ाक की भरपूर सामग्री इसमें होती। 'विवेकवर्धिनी' में कुछ वर्षों तक अंग्रेजी-खण्ड भी होता था जिसमें अधिकांश लेख उनके साथी और सहयोगियों के होते। परन्तु इनका प्रभाव नगण्य था। इसके सहयोगियों से तीन व्यक्ति वीरेशलिंगम् के अति निकट थे। ये उनके विद्यार्थी थे। इनके साथ के उनके बड़े ही हार्दिक वाद-विवाद, बिना किसी संक्षिप्तीकरण के, शायद युवा पीढ़ी की विचार-धारा के साथ सम्पर्क बनाए रखने के लिए थे। इन चारों को अधिकांश अवसरों पर गुप्त सभायें करते देखकर कुछ दिल्लगीबाज़ों ने 'दुष्ट चतुष्टय' (महाभारत की दुष्ट चौकड़ी पर आधारित) नाम दे दिया। वीरेशलिंगम् को यह उपनाम बहुत पसन्द आया-सा दिखता है, क्योंकि उन्होंने अपनी 'आत्मकथा' में बड़ी खुशी से इसका उल्लेख किया है।

'विवेकवर्धिनी' से आय अच्छी नहीं होती थी, परन्तु बढ़ती हानियों की ओर ध्यान न देकर उन्होंने इसे कई वर्ष तक चलाया। अंतिम दिनों में उन्होंने उसे साप्ताहिक कर दिया। परन्तु, अन्य कार्य-कलापों के लिए अधिक समय की आवश्यकता होने के कारण अब वे इसके लिए आरंभिक दिनों के समान समय न दे पाते थे। उसका प्रकाशन भी अनियमित हो गया। अन्ततः १८९० में उन्हें उसे बन्द कर देना पड़ा। अपने १५ से कुछ अधिक वर्षों के तूफ़ानी और बहुमुखी जीवन में, अपने से पहले या बाद में प्रकाशित किसी भी पत्रिका की अपेक्षा तेलुगु पत्रकारिता के क्षेत्र में इसने ऐतिहासिक कार्य किया है। जैसा सर रघुपति वेंकट रत्नम् कहते हैं—

> "यह एक ऐसी उफ़नती धारा थी कि इस 'हरकुलिस' ने अपने समय के भारतीय जीवन की घुड़सालों को इससे धोया था। वह प्रकाश की एक ऐसी किरण थी, आशा का एक ऐसा स्वर था कि जिसे इस धर्म-परायण व्यक्ति ने अज्ञान और निराशाभरे उदासीन एकान्त जीवनों और अँधेरी राहों में पहुँचाया।"

'विवेकवर्धिनी' ही उनकी एक-मात्र पत्रिका न थी। स्त्रियों की पत्रिका 'सती-हित-बोधिनी' के विषय में पहले उल्लेख किया जा चुका है। उन्होंने इसे १८८३ से आरंभ करके तीन वर्ष तक प्रकाशित किया। अपनी ईश्वरवादी पत्रिका 'सत्यसंवर्धिनी' को उन्होंने १८९१ में मुद्रित किया। सन् १९०५ में 'सत्यवादिनी' नाम से उन्होंने एक नया साप्ताहिक आरम्भ किया। वह भी एक 'गड़गड़ाहट'

थी, परन्तु उसकी गड़गड़ाहट 'विवेकवर्धिनी' की अपेक्षा कमज़ोर और कमभयप्रद थी। अपनी पत्रिकाओं के संपादन के साथ-साथ, अपने दो साथियों के सहयोग से और दो पत्रिकाओं का संपादन करने लगे : 'न्यायपति सुब्बाराव' के साथ उनकी पत्रिका—चिंतामणि' तथा आर० वेंकट शिवुडू के साथ उनकी पत्रिका 'तेलुगु जनन'।

भले ही ऊपरी सतह पर लगता हो कि स्थानीय समस्याओं के साथ संघर्ष करने में वीरेशलिंगम् ने अपनी पत्रिकाओं का उपयोग किया, परन्तु उनका वास्तविक उद्देश्य था—पुरानी और रूढ़िगत जीवन की पद्धतियों और विचारों से पूरी तरह अलग हो जाना। उनके सारे लेखन की अन्तर्धारा थी—तर्कसंगतता और आधुनिकता की अपील। उनका विश्वास था कि जब तक पुराणपंथी रीतियों और परंपराओं के ज़हरीले घास-पात की सफ़ाई नहीं हो जाती, तब तक तर्क-संगतता और आधुनिकता—दोनों में से कोई भी जड़ नहीं पकड़ सकता। इसलिए, उन्होंने अपनी पत्रिकाओं को हँसिया बना दिया। महत्त्व की बात है कि धर्म युद्ध करने वाली अपनी दो पत्रिकाओं का नाम 'विवेकवर्धिनी' (जो औचित्य की शक्ति को बढ़ाता है) और 'सत्यवादिनी' (सत्य का प्रवर्त्तक) रखा। भेद-भाव करना वे तर्कशीलता का दूसरा नाम मानते थे और जो भी आधुनिक और वैज्ञानिक, मानवतावादी और प्रगतिशील हो उसे सत्य के बराबर रखते। कई बार अपने मित्रों और स्वयं को 'हम आधुनिक सभ्यता वाले' कहा है। 'विवेकवर्धिनी' के एक सम्पादकीय लेख में उन्होंने जो लिखा, उसका स्वच्छन्द रूपान्तर प्रस्तुत है—

> "आधुनिक विज्ञान एक गोरी युवती है; जिसे पश्चिमी विद्वान् यहाँ ले आए हैं। अपने हाथों में नये ज्ञान का दीप लेकर वह सदियों के अंधकार को दूर कर रही है; अंधविश्वासों और गलत धारणाओं के राक्षस अब नौ दो ग्यारह हो रहे हैं। अब जो युद्ध जारी है वह है—सचाई और झूठ के बीच, ज्ञान और अज्ञान के बीच, नई और पुरानी दुनिया के बीच। इस युद्ध में कोई भी तटस्थ नहीं रह सकता। उसे इस ओर या उस ओर अपने को रखना ही होगा। बुद्धिसंगति या अंतिम परिणाम के चुनाव के बारे में हमें कोई संदेह नहीं है। यह युद्ध भले ही दीर्घकालीन तथा कटु हो, परन्तु अन्ततः अज्ञान और झूठ पर ज्ञान और सत्य की विजय होगी।"

तेलुगु उपन्यास के जन्मदाता

यदि कविता साहित्य की सबसे पुरानी शाखा है तो उपन्यास सबसे नई शाखा। नीतिकथाओं, परी कहानियों, किस्सों, वीरगाथाओं, प्रणय-गाथाओं और अभिलेखों से यह रूप ग्रहण करने में उपन्यास को हज़ारों वर्ष लगे। भले ही वह इन सबकी ऋणी है, पर उसका अपना तन और अपना प्राण है। उपन्यास लम्बी कथा नहीं; वह अलग प्रकार की वस्तु है। न ही वह गद्य में लिखी प्रणय-गाथा है; वह कल्पनाशील कम और यथार्थवादी अधिक है।

पश्चिम का उपन्यास, उसे जिस रूप में आज हम समझते हैं, पहली बार स्पेन में सत्रहवीं शताब्दी में, ब्रिटेन में अठारहवीं शताब्दी में और भारत में उन्नीसवीं शताब्दी में पाया गया। 'डॉन क्विग्जोट' के निर्माता सर्वान्ती, स्पेन के तथा यूरोप के पहले उपन्यासकार थे; 'राविन्सन क्रूसो' के रचयिता डेफ़ो ब्रिटेन के; और 'दुर्गेशनन्दिनी' के रचनाकर—बंकिमचन्द्र चैटर्जी भारत के प्रथम उपन्यासकार थे। इन सारी मानी-जानी और पुरानी बातों का उल्लेख यहाँ वीरेशलिंगम् और उनके 'राजशेखर' की ओर ले जाने के लिए किया गया है।

'बंग दर्शन' नामक अपनी साहित्यिक पत्रिका में १८७५ में चटर्जी ने अपनी कृति 'दुर्गेशनन्दिनी' को धारावाहिक रूप में प्रकाशित किया। तीन वर्ष बाद अपनी पत्रिका 'विवेकवर्धिनी' में वीरेशलिंगम् ने 'राजशेखर चरित्र' प्रकाशित करना शुरू किया। दोनों के बीच के इस छोटे-से अन्तर के कारण क्या हम वीरेशलिंगम् को भारत का दूसरा उपन्यासकार मान सकते हैं? यह और आगे खोज करने का विषय है, परन्तु निर्विवाद रूप से, वीरेशलिंगम् तेलुगु के प्रथम उपन्यासकार थे। तेलुगु उपन्यास के जनक के रूप में वे बंगला के अपने सह-कृतिकार के ऋणी न थे। पहली बात यह कि वे बंगला नहीं जानते थे, और दूसरी, १८७५ और १८७८ के बीच 'दुर्गेशनन्दिनी' का अंग्रेजी या किसी भारतीय भाषा में अनुवाद प्रकाशित नहीं हुआ था। चटर्जी के समान ही उन्होंने अंग्रेजी उपन्यास से प्रेरणा ग्रहण की थी, तथा दोनों के लिए समय भी बहुत अनुकूल था।

पश्चिम में मध्यवर्ग के साथ उपन्यास-विकास को जोड़ा जाता है। अपनी

रुझान और आकार में वह मूलतः मध्यवर्ग का है और लोकतांत्रिक है। इसी-लिए, लोकतांत्रिक शक्तियों और मध्यवर्ग के लाभ के साथ एक-एक क़दम आज तक बढ़ता आया है जबकि साहित्य की अन्य विधाओं से, लोकप्रियता में, वह सबसे आगे बढ़ चुका है। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चतुर्थांश तक भारत में सामन्त-शाही अपनी चरम सीमा पार कर चुकी थी और मध्यवर्ग अपना प्रभाव जताने लगा था। वह अपनी शक्ति और अपने ऐतिहासिक महत्त्व के प्रति अधिकाधिक सचेत हो उठा था और अधिक मुखर हो रहा था। इसलिए भारतीय उपन्यास के पदार्पण के लिए मंच ठीक से सजाया जा चुका था।

'दुर्गशनन्दिनी' के लिए चटर्जी ने स्कॉट के 'आइवन हो' से अपनी कथा का केन्द्रविन्दु चुना था; इसी तरह वीरेशलिंगम् ने 'राजशेखर-चरित्र' के लिए गोल्डस्मिथ के 'विकार ऑफ वेकफील्ड' से चुना। 'स्कॉट' की तरह ही 'चटर्जी' को भी मध्ययुग, उसके 'वैरन' और उनके किलों के प्रति उभर-उभर जाने वाला मोह था। स्कॉट के समान उन्हें भी लगता था कि वह युग शौर्य और गौरव से पूर्ण था। वाद के वर्षों में चटर्जी सुधार विरोधी तक हो गए और हिन्दू-पुनरुत्थान अभियान के अग्रणी वन गए। यह झुकाव मान लेने पर उनके लिए 'स्कॉट' और उनके 'आइवन हो' को चुनना, तथा दुर्ग के अधिपति की पुत्री (दुर्गेशनन्दिनी) के चारों ओर अपने पहले उपन्यास का ताना-वाना तैयार करना स्वाभाविक ही था। चटर्जी से उल्टे, वीरेशलिंगम् न तो अतीत और न उसकी सामाजिक व्यवस्था, न ही उसके जीवन-सम्वन्धी मूल्यों पर लट्टू थे। नये मध्यवर्ग और उसकी लोकतांत्रिक इच्छाओं और उसकी सम प्रवृत्तियों के वे जोरदार मानने वाले थे। इसीलिए, 'विकार ऑफ वेकफील्ड' के प्रति उनका रुझान था जिसमें मध्यवर्ग की गरीवी और अभिमान का नाटक था।

वीरेशलिंगम् का असली विचार था 'गोल्डस्मिथ' के उपन्यास का अनुवाद करना, किंतु दो-तीन अध्याय पूरा करने पर उन्हें लगा कि उसका विदेशी वाता-वरण उनके सीधे-सादे पाठकों को अपनी ओर आकृष्ट करने के वदले अपने से दूर कर देगा। अतः उन्होंने अपना अनुवाद फाड़ डाला और अपनी कृति 'राज-शेखर चरित्र' का लेखन शुरू किया। फल यह है कि वे 'गोल्डस्मिथ' के नाम-मात्र को ऋणी हैं। कथानक के कुछ अंश और तीन या चार पात्रों को ही उन्होंने लिया है; वाकी का सारा निर्माण उनका अपना है। 'हिस्ट्री ऑफ इंग्लिश लिटरेचर' (अंग्रेजी साहित्य का इतिहास) के सह-लेखक 'लेखा' और 'कज़में' के अनुसार 'द विकार ऑफ वेकफील्ड' एक परिवार और एक घर से सम्वन्धित उपन्यास है; इसी तरह 'राजशेखर चरित्र' भी। लेकिन अन्तर इतना ही है कि यह मध्यवर्गीय

आंध्र-परिवार का प्रतिरूप है तथा इसकी कथा निचली गोदावरी घाटी के एक घर के इर्द-गिर्द घूमती है।

कथासूत्र की दृष्टि से 'राजशेखर चरित्र' कुछ कमज़ोर पड़ता है। कुछ उधार ली गई और कुछ कल्पना से गढ़ी गई कथावस्तु ढीली-ढाली और चर-मराती चलती है। वह उपकथाओं के बीच घूमती है, संगठित होने के बजाय प्रासंगिक हो जाती है। उसके कुछ और दोष भी हैं और इन सबका सूत्र लेखक के स्वभाव में सीधा ढूंढ़ा जा सकता है। वह कलाकार से अधिक नैतिकतावादी, कवि से अधिक उपदेशक, निर्माता से अधिक प्रवक्ता है। कथानक में निहित नैतिक तत्त्व और संदेश को कथा के द्वारा ही प्रकट होने देकर वे संतुष्ट नहीं होते, बल्कि वेदी पर स्वयं चढ़े बिना नहीं रह पाते। अपने विचारों और आदर्शों का प्रकाशन करने के उत्साह में वे अक्सर अपने पात्रों के मुख से ऐसी बातें कहलाते हैं, जो उनके चरित्र-गठन से और कथानक-संदर्भ से अलग होती हैं। यदि वे गोल्डस्मिथ की तरह उपन्यास के नायक को प्रथम पुरुष एकवचन में कहानी करने देते तो स्वाभाविक ढंग से और काफी हद तक सत्याभास के द्वारा नैतिक शिक्षा दे सकते। परन्तु, उन्होंने सारा कथानक अपुरुष बहुवचन में प्रस्तुत किया है। इस कारण उनके उपदेश अस्वाभाविक लगते हैं और चिढ़ पैदा करते हैं।

इसके अतिरिक्त, अध्यवसायी उपदेशक के रूप में या तो अपने पात्रों को सफेद रंग से रँगते हैं या काले, इनके बीच का कोई मध्यवर्ती रंग-स्तर नहीं होता। या तो वे 'पेद्दापुरम्' के राजा कृष्ण जगपति की तरह सदाचार के प्रतिरूप हैं या फिर शोभनाद्रि राजु, नीलाद्रि राजु और नारायण मूर्ति की तरह गुंडे और बदमाश हैं। यहाँ तक कि राजशेखर भी कमज़ोर और नाज़ुक है। किसी भी स्तर पर उसके प्रति हमें वास्तविक दुःख नहीं होता; उसकी अभागी स्थितियाँ अधिकतर उसीकी अपनी बनाई हुई हैं।

वीरेशलिंगम् की तरह, 'गोल्डस्मिथ' भी अच्छाई और मानवतावाद का प्रवर्त्तक था। अपने उपन्यास में उसने मल्लयुद्ध, दण्ड-विधान की कड़ाई और अन्य बातों की निंदा की थी। उसने जेल-जीवन में सुधार और निचले वर्गों के लिए बेहतर जीवन के लिए आवाज़ उठाई थी। फिर भी लेग्वी और कज़ामैन के शब्दों में, "अपनी सम्पूर्णता, दूरदृष्टि, आत्मनिष्ठा, संतुलन और हँसी-मज़ाक में उनकी प्रेरणा कालजयी है।" इस कालजयी प्रेरणा की पूरी मात्रा न होने के कारण, अपने संदेश और अपनी कला के सम्मिश्रण में वीरेशलिंगम् सफल नहीं हुए।

कलात्मक शक्ति और संवेदनशीलता में भले ही वीरेशलिंगम् गोल्डस्मिथ के

बराबर न हों पर एक विषय में वे अवश्य सफल हुए हैं। गोल्डस्मिथ के समान ही, वे अपने निज के जीवन के समृद्ध भण्डार और अनुभवों से काफ़ी सामग्री लेते हैं। केवल तीन उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं : पुरानी पद्धति के अनुसार, कठोर और अर्द्धशिक्षित शिक्षकों से प्राप्त आरंभिक शिक्षा-संबंधी अपने असंतोष, गरीबी में बिताए अपने आरंभिक जीवन के अपमान और तिरस्कार, तथा जाति से बहिष्कृत होने पर भोगी हुई दुखद और कष्टकर स्थितियाँ।

सामाजिक यथार्थता लाने के लिए, वीरेशलिंगम् अपने कई पात्रों को अपने ही परिवार या अपने निकटतम लोगों में से चुनते हैं। उपन्यास के नायक राजशेखर का निर्माण वीरेशलिंगम् के पितामह पर आधारित हुआ है जिन्होंने, जैसे पहले कहा जा चुका है, अपनी सारी पैतृक सम्पत्ति-बिना सोचे-विचारे दान और उपहारों में लुटा दी। इस पूर्वज की सारी कमज़ोरियों और खामियों, भोलेपन और प्रशंसा की लालसा व्यक्तिगत सम्मान और पारिवारिक दम्भ-संबंधी भ्रांत धारणाओं का राजशेखर के चरित्र में सुन्दर, ज्योतिषी, वैद्य, चापलूस, तथा जोंक की तरह रक्त चूसने वाले, आश्रित—सारी-की-सारी भयानक भीड़ वहाँ है जो कभी तो छोटे पात्रों के चित्रण में चित्रण हुआ है। परिवार के पुजारी, फिट बैठते हैं या कभी नहीं। अलौकिक शक्ति प्राप्त करने की इच्छा से तपस्या करने हिमालय जाकर, कुछ कष्ट सहने पर बीच में ही लौट आने वाले वीरेशलिंगम् के चार सहयोगियों में से एक, इस उपन्यास में राजशेखर के दामाद के रूप में फिर हमारे सामने आता है। जिस नकली डाक्टर ने अपनी काली विद्या के बल पर वीरेशलिंगम् का नाश करने की धमकी दी थी बाद में वही स्वयं कष्ट पाता है, और वह इस उपन्यास में राजशेखर के साले के रूप में आता है।

वीरेशलिंगम् के वर्णनों में यथार्थता का पुट भी मिलता है। इसे ठीक से न समझकर प्राचीनता के पक्षपाती काशीभट्ल ब्रह्मय्य शास्त्री को वीरेशलिंगम् के निरंतर बुरी आलोचना करने वालों में एक, बुरी तरह मात खानी पड़ी। गृह-निर्माण के हिन्दूशास्त्र, वास्तुशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार राजशेखर के घर का वर्णन पढ़ने पर शास्त्री जी का कहना था कि ऐसा घर कभी हो ही नहीं सकता। शास्त्री की टीका पर वीरेशलिंगम् का एक ही उत्तर था कि वे स्वयं आकर उनका पुस्तैनी घर देख लें।

'राजशेखर चरित्र' की यथार्थवादिता ने ही उसे विशिष्टता प्रदान की है। भले ही वह प्रथम श्रेणी का उपन्यास न हो, पर वह उत्तम सामाजिक इतिहास है। उन्नीसवीं सदी के मध्यकालीन तेलुगु जीवन का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करता है। फिर भी एक भूल है। उन्नीसवीं सदी के मध्यकाल में 'पेद्दापुरम्' के राजा-कृष्ण जगपति

को वे न्यायसंगत अधिकार नहीं प्राप्त हो सकते जिनका उन्होंने यहाँ उपयोग किया है। इस असंगति को ठीक करने के लिए, वीरेशलिंगम् कहते हैं कि राजशेखर सत्रहवीं शताब्दी में रहते थे। परंतु हमें इस कथन को गंभीरता से नहीं स्वीकार करना चाहिए। बाद में सूझे विचार की तरह उन्होंने इसे रखा होगा। यह उपन्यास के अंत में आता है, अंतिम पंक्ति से एक पंक्ति पहले।

प्रकाशन के बाद 'राजशेखर चरित्र' का पत्र-पत्रिकाओं ने तो स्वागत किया पर जनता ने निरुत्साह जताया। हज़ार प्रतियों वाले प्रथम संस्करण को बेचने में कई वर्ष लग गए। इसका एक कारण तो संभव हो सकता है, उपन्यास के रूप में स्वभावगत कमज़ोरी, और दूसरा—बड़ी ही स्पष्टता से समकालीन समाज के गंदे चेहरे को प्रतिबिम्बित करना। जनता की यह शीत प्रतिक्रिया वीरेशलिंगम् के लिए परिमन्दक सिद्ध हुई; क्योंकि उनकी हर पुस्तक बड़ी जल्दी बिक जाती थी। उन्होंने फिर उपन्यास न लिखा। अनुमान लगाना रोचक होगा कि यदि वह उपन्यास-लेखन जारी रखते तो भारत के एक प्रमुख उपन्यासकार के रूप में उभरते। संभव है न भी होते। कथा-साहित्य उनका क्षेत्र न था और वे अपने लक्ष्य के प्रति इतने निष्ठावान थे कि उसके आगे अपनी कला को झुका दिया।

सामाजिक इतिहास के भारी महत्त्व ने 'राजशेखर चरित्र' को देश की अपेक्षा विदेश में अधिक अच्छी मान्यता प्रदान की। 'फॉर्च्यून्स व्हील' नाम से अंग्रेजी में अनूदित होने पर, पत्र-पत्रिकाओं ने इसका भव्य स्वागत किया। ३० सितंबर १८८७ को इसकी समीक्षा करते हुए 'द टाइम्स' (लंदन) ने यों लिखा है—

"फार्च्यून्स व्हील' हिन्दू उपन्यास का प्रायः अनूठा उदाहरण है। इसके लेखक, के० वीरेशलिंगम् के विषय में अनुवादक ने कहा है कि वे एक उत्साही सुधारक हैं। कुछ स्तर तक अंग्रेजी का ज्ञान होने से, उन्होंने एक काल्पनिक कथा के माध्यम से हिन्दू जाति और उसकी अंतर्निहित भावना को अपने पाठकों तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है। यूरोपीय लोगों के लिए जाति-प्रथा के कारण उत्पन्न पृथक्ता से इसका प्राप्त होना अति कठिन है। अपने-आपमें कहानी सरल है तथा यूरोपीय दृष्टिकोण से इसमें कोई विशेष आकर्षण भी नहीं है। परंतु हिन्दू पारिवारिक जीवन, धार्मिक विचार, पूजा की विधियाँ और अंधविश्वास, स्त्रियों की दशा, जो विवाह-संबंधी अपने चुनाव के सारे अधिकारों से वंचित हैं—यह सब इतनी अच्छी तरह चित्रित हैं और सोदाहरण है कि यह पुस्तक उन सभी पाठकों के लिए आकर्षक होगी जो आम तौर पर देशी जाति की सामाजिक स्थिति में सुधार होने के लिए लेखक से सहमत होते हैं। मूल तेलुगु से अनुवाद करने वाले

हैं श्री जे० आर० हचिन्सन तथा भूमिका जोड़ी है जनरल मैक्डोनाल्ड ने, जो मद्रास राज्य के भूतपूर्व शिक्षा-निदेशक (डायरेक्टर ऑफ इन्स्ट्रक्शन) थे और जिन्होंने ब्रिटिश जनता की जानकारी के लिए विशेष रूप से इसकी सिफारिश की है।"

'राजशेखर चरित्र' का कन्नड में भी अनुवाद हुआ। जैसे-जैसे समय बीतता गया, वैसे-वैसे तेलुगु लोगों ने भी उपन्यास के परिधान में इस सामाजिक इतिहास को मान्यता देनी आरंभ की और अभी भी वह प्रकाशित रूप में मिलती है।

नीति-कथाओं की ओर जब वीरेशलिंगम् ने ध्यान दिया तो वे अपने वास्तविक रूप में अधिक दिखाई देने लगे। 'सत्यवती चरित्र' उन्होंने १८८३ में लिखा और प्रकाशित किया। यह कहानी उनके कल्पना-जगत् की आदर्श गृहिणी की थी। इसे भारी सफलता मिली। उसके तमिल, कन्नड और अंग्रेजी अनुवाद एक के बाद एक शीघ्र प्रकाशित हुए। इसने लोगों का ध्यान इतना अधिक आकर्षित किया कि अनेक व्यक्ति अपनी नवजात बालिकाओं का नाम 'सत्यवती' रखने लगे।

इसके पश्चात् शीघ्र ही, उन्होंने दो नीति-कथाएँ लिखीं—'चन्द्रमती चरित्र' और 'सत्य संजीवनी'। पहली हिन्दू पौराणिक कथाओं से ली गई है, दूसरी उनकी अपनी कृति है और सचाई का प्रतिपादन करना चाहती है।

अपने समय की विचार-धारा के सच्चे प्रतिनिधि के रूप में, वीरेशलिंगम् समझ सके थे कि आने वाला युग उपन्यास का युग है। इसलिए उनसे जैसे भी बन पड़ा वैसे उन्होंने उपन्यास लिखने के लिए औरों को प्रोत्साहित किया। न्यायपति सुब्बाराव के सहयोग में उन्होंने वर्ष के सर्वोत्तम उपन्यास के लिए पुरस्कार निर्धारित किया। इस पुरस्कार को अवसर पाने वाले थे—चिलकमर्ति लक्ष्मी नरसिंहम्, जो बाद में अपने समय के प्रमुख उपन्यासकार बने।

प्रथम तेलुगु नाटककार

उपन्यास से उल्टे, नाटक साहित्य की सबसे पुरानी शाखा है। पुरानेपन में कविता के बाद दूसरा स्थान उसीका आता है। कविता के समान ही इसने भी धर्म से प्रेरणा ग्रहण की है। पहले-पहल, कविता और नाटक वास्तव में धर्म ही थे, तथा सबसे पहला नाटक काव्य-नाटक ही था।

नाट्य-शास्त्र में सुरक्षित भारतीय परम्परा के अनुसार नाटक-उद्भव ईश्वरीय है। कुछ लोग ऋग्वेद में ही नाटक का अविकसित रूप देखते हैं, और मानते हैं कि यम और यमी, आदिम युगल की बातचीत ही नाटक का छोटा रूप है। यदि कुछ और न हो तो नाटक उतना ही प्राचीन है जितने अश्वघोष हैं। वे महान् कवि तथा प्रथम 'काव्य' के रचयिता तो थे ही, पर उल्लेखनीय नाटककार भी थे। बाद के संस्कृत नाटककारों में, भास और कालिदास, भवभूति और हर्ष, भट्टनारायण और शूद्रक विश्व-प्रसिद्ध हैं। यूनान को छोड़कर किसी अन्य प्राचीन देश ने भारत के समान उच्चकोटि का नाटक-साहित्य उत्पन्न नहीं किया है। यह वास्तव में बड़े आश्चर्य की बात है कि संस्कृत में नाटकों की इतना सम्पन्न दाय होने पर भी वह भारतीय भाषाओं के नाटककारों को प्रेरणा देने में असफल रही।

कारण जो हो, परंतु अभी हाल तक संस्कृत को छोड़कर किसी अन्य भारतीय भाषा में नाटक-साहित्य नहीं था। हाँ, यह सच है कि उनमें कुछ लोक-नाटक और वासना (रहस्य)-प्रधान नाटक थे। आंध्र में 'यक्षगान' और 'वीधिनाटकम्', कर्नाटक में 'बायलता', केरल में 'कथकली', महाराष्ट्र में 'कीर्तन' और 'ललिता', गुजरात में 'भावई', बंगाल में 'जात्रा', आसाम में 'ओजपाली' हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में रामलीला और कृष्णलीला के रूप में प्रस्तुत किये जाते थे। लेकिन इनमें से कोई भी लोक-नाटक या वासना-नाटक, न तो भरत के वर्गीकरण के अनुसार दस प्रकार के नाटकों में, और न ही अरस्तू की नाटक की परिभाषा के पास तक आता है। अपने सच्चे और परिभाषित अर्थ में, पाश्चात्य प्रभाव के बाद ही भारत की कालजयी-तर (नॉन-कलासिकल) भाषाओं में, तेलुगु में भी, नाटक का विकास होने लगा।

अन्य क्षेत्रों की तरह, इस क्षेत्र में भी आंध्र देश में वीरेशलिंगम् ही प्रथम थे। इनसे पहले कोराड रामचन्द्र शास्त्री को कुछ लोग मानते हैं, जिन्होंने अपने 'मंजरी-मधुकरीयमु' को १८६१ में प्रकाशित किया था। परन्तु यह नाटक न तो भारतीय और न ही पाश्चात्य नाटक-शास्त्र के अनुसार है। इसमें अंकों और दृश्यों का विभाजन तक नहीं है। बड़ी कठिनाई से इसे रंगमंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है। केवल कल्पना-शक्ति के आधार पर ही इसे नाटक कहा जा सकता है।

वीरेशलिंगम् का पहला नाटक है—'ब्रह्म विवाहम्', जिसे उन्होंने १८७६ में 'हास्य संजीवनी' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया था। रामनारायण के 'कुलिनाकुल सर्वस्व' के समान ही यह भी सामाजिक सुखांतिका है जो शायद सर्वोत्तम बंगला नाटक है। 'ब्रह्म विवाहम्' का मुख्य पात्र है 'पेद्दय्य' (शाब्दिक अर्थ है वयस्क या वृद्ध पुरुष), जो अपनी तीसरी पत्नी की मृत्यु के ठीक बाद तीन साल की एक बालिका से विवाह करता है। इस नाटक के कुछ और प्रमुख पात्र हैं—लालची माता-पिता, जो एक हज़ार रुपयों के लिए शिशु-वधू को बेचते हैं; बदमाश दलाल, जो इस रिश्ते का प्रबंध करता है; सिद्धान्तहीन ज्योतिषी, जो पेद्दय्य को उनकी असली आयु से तीस वर्ष कम बताने के लिए गवाह तैयार करता है। दोयम स्तर की भीड़ भी कमीनी, स्वार्थी तथा गिरी हुई है और अमानुषिक भी। किसी में भी सद्गुण का नाम तक नहीं जो उसे उबार सके। यह नाटक इतना लोकप्रिय हुआ कि दो वर्ष के बाद जब लेखक मछलीपट्टनम् दौरे पर गए थे और वहाँ जब एक छोटी लड़की ने अपनी स्मरण-शक्ति के आधार पर पूरा-का-पूरा नाटक कह सुनाया, तो उन्हें बड़ी खुशी हुई और आश्चर्य भी हुआ। लोगों ने इसे अलग से अपना नाम दिया। वे इसे 'पेद्दय्यगारि पेळ्ळि' (पेद्दय्य जी की शादी) कहते। पता चलता है कि 'कुलिनाकुल सर्वस्व' ने बंगाल की बहु-विवाह-प्रथा पर घातक प्रहार किया था। इसी तरह 'ब्रह्म विवाहम्' ने आंध्र में बूढ़ों के बाल-पत्नियों से विवाह करने की रीति पर गहरा आघात किया।

उनकी अगली सामाजिक सुखान्तिका 'व्यवहार-धर्म-बोधिनी', जो १८७९ में प्रकाशित हुई थी, बड़ी प्रभावशाली पुस्तक रही है। प्रशंसक जनता ने इसका लोकप्रिय नाम रखा था—'प्लीडर नाटकम्' (वकील का नाटक)। इस लोकप्रिय नाम से जैसे अनुमान लगा सकते हैं, इसका कथानक वकीली पेशे में पाए जाने वाले वर्तमान नैतिक मानकों से संबद्ध था। वकीलों के अतिरिक्त इसके अभियोग-पत्रों में न्यायालय के निचले स्तर, उनके अनुजीवी और मुक़द्दमा लड़ने वाले सम्मिलित थे। स्थानीय स्कूल में वीरेशलिंगम् के मित्रों और छात्रों ने इसे

१८८० ईस्वी में खेला। इसे खूब सफलता मिली। चाहे व्यावसायिक स्तर हो या शौकिया स्तर, पर आंध्र में खेला गया यह पहला आधुनिक नाटक था।

उनकी तासरी सामाजिक सुखान्तिका है—'विवेक दीपिका'। इसे उन्होंने अधूरा ही छोड़ दिया। विधवाओं के पुनर्विवाह-संबंधी प्रयासपूर्ण प्रतिकथनों के कारण स्वयं वीरेशलिंगम् ने शायद सोचा होगा कि वह नाटक की अपेक्षा पत्रक ही अधिक बन पायगा।

उनके समय का हिन्दू-समाज अपने अधःपतन में इतने निचले स्तरों पर पहुँच गया था कि वे उसे 'पशुशाला' के रूप में देखने लगे थे। इस प्रकार का चित्रण करते हुए उन्होंने तीन छोटे नाटक लिखे; पशु और मांसाहारी पक्षी धूर्त और निर्दय मनुष्यों के प्रतीक थे। इनमें से एक नाटक तुरंत लिखने की उत्तेजना के कारण वे लोमहर्षक चीज़ें थीं जो उनके प्रिय मित्र और युवा साथी 'वसवराजु गवरराजु' की अचानक मृत्यु के बाद घटीं। उनके कुछ निकटतम संबंधियों ने, जो 'शत्रु' के समाज-सुधार कार्यों के विरुद्ध थे, उनकी ग़रीब पत्नी को पति की दाह-क्रिया करने के लिए सहायता देना अस्वीकार कर दिया। व्यवसायी अर्थी ढोने-वालों ने, परिस्थिति से लाभ उठाकर, बहुत अधिक पैसा माँगा। इस दुष्टबुद्धि-पूर्ण अधम कार्य से क्रुद्ध होकर वीरेशलिंगम् ने प्रखर समालोचना लिखने के लिए लेखनी उठाई, तथा 'तिरयाग विद्वान्-महासभा' (प्रबुद्ध पशुओं और शिकारी पक्षियों की महासभा) नाम से इसे पूरा कर, छपाकर कुछ ही घंटों में प्रकाशित करके बँटवा दिया। अनेक लिखित अभियोग-पत्रों में से एक पत्र में, जिनका उन्हें सामना करना पड़ा, इस रचना का तथा दूसरी 'मूशिकासुर विजयम्' का प्रमुख स्थान था।

उन्हींके अनुसार उनके नाटकों की दूसरी टुकड़ी, प्रहसनों की है। सी० पी० ब्राऊन के अधिकृत 'तेलुगु-अंग्रेजी-शब्दकोष' के अनुसार 'प्रहसन' के अंग्रेजी पर्याय हैं—'फार्स' और 'बर्लेस्क'। उनके लिखे छोटे-बड़े कुल १४ प्रहसनों में दस के बारे में कहा जाता है कि वे अंग्रेजी से लिये गए हैं। इसके अलावा, उन्होंने ४६ हास्य-प्रधान वार्तालाप भी लिखे थे। इन्हें उन्होंने 'हास्य संजीवनी' शीर्षक से चार भागों में प्रकाशित किया।

उनका विनोद हल्का-फुल्का और सूक्ष्म नहीं है; वह व्यापक, मज़ाक उड़ाने-वाला और उपालम्भपूर्ण है। उसमें हँसी की अपेक्षा व्यंग्य अधिक है। विक्टोरिया युग की पत्रिका 'पंच' आज की 'पंच' पत्रिका नहीं है। हर युग में विनोद के स्तर में परिवर्तन आता है। इसलिए इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि वीरेश-लिंगम् के 'प्रहसन' और 'वार्तालाप' कृतियों में उनके समकालीन हमसे कहीं

अधिक रस लेते थे।

अपने गंभीर नाटकों के लिए उन्होंने 'ग्रांथिक' भाषा (साहित्यिक गद्य शैली) का प्रयोग किया है, परंतु अपनी सामाजिक सुखांतिकाओं और स्वाँगों के लिए उन्होंने 'व्यावहारिक' भाषा (बोल-चाल की भाषा) का प्रयोग किया है। इस प्रकार अपने सीमित क्षेत्र में भी अपनी साहित्यिक रचनाओं में 'व्यावहारिक' शैली का प्रयोग करने वाले, वे ही प्रथम लेखक थे। यहाँ फिर हमें प्रवर्त्तक का दक्ष स्पर्श मिलता है। अपनी स्वाभाविकता और सहजता, लास्य और उल्लास से भरी बोल-चाल की तेलुगु ने ही उनकी सामाजिक सुखांतिकाओं और स्वाँगों में शक्ति प्रदान की है। ऊपरी स्तरीय मत के विपरीत उनकी बातचीत में चटपटापन है और सहज विनोद तथा मुहावरों का प्रयोग मिलता है।

राजमन्द्री के एक नाटक-संघ के निवेदन पर वीरेशलिंगम् ने १८८५ में प्रह्लाद के जीवन पर आधारित पहला पौराणिक नाटक लिखा। पाँच अंकों का सम्पूर्ण नाटक, शीघ्र ही प्रकाशित हो गया, पर कुछ कारणवश मंच पर नहीं खेला गया। इसके बाद शीघ्र ही 'महाभागवत' से हटकर 'महाभारत' से कौरववंशीय राजकुमारों द्वारा गायों को भगा ले जाने वाले प्रसंग को उन्होंने नाटकीय रूप दिया। 'दक्षिण गोग्रहणम्' नाम से यह नाटक भी पूरे पाँच अंकों का है। दोनों नाटकों ने संस्कृत के शास्त्रोक्त नाटकों का ढंग अपनाया। दोनों ही नाटकों में गद्यात्मक वार्तालापों के बीच-बीच पद्यों का समावेश किया गया है। 'ग्रांथिक' शैली का प्रयोग किया गया है, पर वह न तो बहुत पांडित्यपूर्ण है और न ही कठिन शब्दावलीयुक्त; परंतु सरल और स्पष्ट है। इन दो नाटकों के द्वारा वीरेशलिंगम् ने तेलुगु के बाद के पौराणिक नाटकों के लिए आदर्श प्रस्तुत कर दिया और अधिकतर आज भी इसे ही अपनाया जा रहा है।

उसी नाटक संघ ने १८८६ में फिर उनसे निवेदन किया कि वे 'शंकर कवि' के तेलुगु काव्य 'हरिचन्द्र-उपाख्यानम्' को नाटक में रूपांतरित कर दें। अपनी विशिष्ट त्वरित गति के अनुसार वीरेशलिंगम् ने पंद्रह दिनों के अंदर चार अंक तैयार कर दिए। नाटक संघ ने जब दूसरी बार भी उन्हें धोखा दिया तो वीरेशलिंगम् ने उसे कुछ समय के लिए आधे में ही छोड़ दिया। थोड़े समय के बाद काकिनाडा के एक और नाटक संघ के कहने पर, उन्होंने पाँचवाँ अंक भी तैयार कर लिया तथा वह खेला भी गया इसमें भारी सफलता भी मिली। जब तक बलिजेपल्लि लक्ष्मीकांतम् के 'सत्य हरिश्चन्द्र' ने इस पर बाज़ी न मार ली, तब तक यह वीरेशलिंगम् के मौलिक नाटकों में सबसे अधिक लोकप्रिय रहा।

उनकी सामाजिक सुखान्तिकाओं के समान ही इन तीन पौराणिक नाटकों में

भी वीरेशलिंगम्, नैतिक उपदेश देने की अपनी नैसर्गिक प्रवृत्ति का मुक्त प्रयोग करते हैं। न तो वे इसे छिपाने का प्रयत्न करते हैं, और न ही इसके लिए लज्जित होते हैं। उल्टे, सच तो यह है कि वे इस पर गर्व करते हैं। अपनी 'आत्मकथा' में वे कहते हैं कि अपने पौराणिक नाटकों में जहाँ कहीं उन्हें मौक़ा मिला, उन्होंने नैतिक पाठ पढ़ाने के लिए उसका पूरा उपयोग किया। वीरेशलिंगम्-जैसे मूर्तिपूजा के पक्के विरोधी के लिए, जिन्होंने पुराणों की कल्पित कथाओं और चमत्कार को पूरी तरह अस्वीकार किया था, इन पौराणिक कथानकों की तर्कसंगत और आधुनिक व्याख्या करने का अच्छा अवसर था। यदि उन्होंने इसका उपयोग किया होता तो वे यूजीन ओ'नील, ज्याँ ऑनविल और ज्याँ गिरादो-जैसे आधुनिक नाटककारों से कहीं आगे बढ़ गए होते, जिन्होंने यूनानी पुराण-कथाओं की अति विद्वत्तापूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की है। यह बड़े दुःख की बात है कि पौराणिक कथाओं के फूहड़ अंशों पर कभी ज़रा इधर-उधर नोंक-झोंक कर, कभी चोट कर वीरेशलिंगम् संतुष्ट हो गए।

जीवन-भर वीरेशलिंगम् ने शेक्सपियर और कालिदास का बड़ी बारीकी से अध्ययन किया। उनके प्रति आदर ने, जो श्रद्धा की सीमा के पास था, उनमें यह महत्त्वाकांक्षा जगाई कि इन दोनों नाटककारों की सर्वोत्तम रचना का अनुवाद करें। शेक्सपियर के 'द कॉमेडी ऑफ एरर्स' (भूलों की सुखान्तिका) का अनुवाद १८७५ के आस-पास आरंभ किया, पर दूसरे अंक के मध्य से वे आगे न बढ़ सके। शेक्सपियर का अनुवाद करना, यूरोपीय भाषाओं में ही कठिन कार्य है; बहुत थोड़े लोगों को इसमें पूरी तरह सफलता मिली है। एकदम दूसरे वातावरण और संस्कृति में पली तथा एकदम भिन्न वाक्य-रचना और मुहावरों वाली भारतीय भाषा में अनूदित करना निस्संदेह अधिक कठिन है। इसका आभास पाते ही, वीरेशलिंगम् को अंततः 'द कॉमेडी ऑफ एरर्स' का अनुवाद छोड़ देना पड़ा। पर कुछ वर्षों के बाद वे फिर इन नाटकों की ओर मुड़े, पूरा-पूरा अनुवाद करने के लिए नहीं, परन्तु उसके वातावरण और पात्रों को पूरी तरह भारतीय बनाकर रुपांतरण करने के लिए। इसका नाम 'चमत्कार रत्नावली' रखा गया और पूरा होते ही खेला भी गया।

असफलता को सरलता से स्वीकार न कर सकने के कारण उन्होंने फिर से शेक्सपियर की ओर ध्यान दिया। इस बार उनका चुनाव था—'द मर्चेण्ट ऑफ वेनिस' (वेनिस का सौदागर)। इसके अनुवाद में उन्होंने तेलुगु के 'द्विपद' छन्द का प्रयोग किया। संस्कृत में इसके समानांतर छन्द नहीं है और भले ही अतुकांत कविता-जैसा लचीलापन इसमें न हो परन्तु कुछ छूट अवश्य है। फिर से, आधे में

ही उन्हें यह कार्य छोड़ना पड़ा। इसके बाद उन्होंने 'चमत्कार रत्नावली' जैसे रूपान्तरण करने तक ही अपने को सीमित रखा। ऐसे रूपान्तरण थे 'राग मंजरी' और 'कल्याण-कल्पवल्ली', जो 'शेरिडन' की रचनाओं 'द ड्रुएन्न' और 'द राइवल्स्' (प्रतिद्वन्द्वी) पर आधारित हैं।

शेक्सपियर के अनुवाद करने में भले ही वीरेशलिंगम् असफल रहे हों परन्तु कालिदास के अनुवाद में उन्हें दनदनाती सफलता मिली। 'शकुन्तला' का उनका तेलुगु रूपान्तर, जिसे १८७६ में आरंभ करके कुछ वर्षों के लिए छोड़कर पुनः १८८३ में पूरा किया, अन्य अनुवादों से कहीं अच्छा है। इसके पहले और बाद में, दर्जनों लोगों ने इसका अनुवाद किया है, परन्तु कोई भी वीरेशलिंगम् के अनुवाद के पास तक नहीं फटक पाया। मूल की भावधारा में प्रवेश कर, हर पंक्ति को बड़ी ही सुघड़ता से वे प्रस्तुत करते हैं। राजवंशी पति के भवन के लिए प्रस्थान करती अपनी पोषित पुत्री शकुंतला को जब कण्व विदा देते हैं, तो उस समय के सजल दृश्य का वर्णन करने में वीरेशलिंगम् को सर्वाधिक सफलता मिली है। कण्व के समान ही वीरेशलिंगम् की अनेक पोषित पुत्रियाँ थीं। विवाह के बाद जब उनमें से हर एक अपने पति के घर गई होंगी तो शायद उन्होंने भी ऐसी धड़कनें अनुभव की होंगी। प्रकाशन के ८० वर्ष बाद, आज भी तेलुगु रंगमंच पर जब-जब 'शकुंतला' का अभिनय किया जाता है तब वीरेशलिंगम् का अनुवाद ही पसन्द किया जाता है।

संस्कृत नाटकों के उनके अन्य अनुवाद हैं—कालिदास का 'मालविकाग्निमित्र', कृष्ण मिश्र का 'प्रबोध चन्द्रोदय' और 'हर्ष'-कृत 'रत्नावली'। ये सब सुन्दर हैं, पर 'शकुन्तला' जैसे अतुलनीय नहीं।

वीरेशलिंगम् न केवल तेलुगु के प्रथम नाटककार थे, पर निर्माता भी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, १८८० में चुने हुए दर्शकों के सामने उन्होंने अपनी सामाजिक सुखान्तिका 'व्यवहार-धर्म-बोधिनी' को मंच पर प्रस्तुत किया था। इसी वर्ष के अन्त में (या १८८१ के आरम्भ में) जनता के लिए उन्होंने दो नाटक प्रस्तुत किए। उन्हीं दिनों 'द धारवाड कम्पनी' अपने सफरी अभिनेताओं के साथ राजमन्द्री आई हुई थी। इसके लिए बनाया गया अस्थायी मंच हटा देने से पहले वीरेशलिंगम् ने जल्दी-जल्दी 'द कॉमेडी ऑफ एरर्स' और हर्ष-कृत 'रत्नावली' के अनुवाद पूरे किये तथा उत्सुक दर्शकों के मनोरंजन के लिए प्रस्तुत किये। समकालीन धारणा को वे न मानते थे कि अभिनेताओं और संगीतकारों को आवाराओं के कोष्टकों में रखना चाहिए। रंगमंच की सांस्कृतिक और शैक्षणिक मान्यताओं के बारे में उनकी समझ स्पष्ट थी। इसलिए, जब कुछ अभिभावकों ने उन

पर दावा करने की धमकी दी कि उन्होंने (वीरेशलिंगम् ने) उनके लड़कों को नाटकों में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया है, तो वीरेशलिंगम् ने अनसुनी कर दी। लेकिन जब उन्हें यह लगा कि मंच से आकर्षित होने के कारण उनके विद्यार्थी पढ़ाई की ओर ध्यान नहीं दे रहे हैं तो उन्होंने अपने निर्देशन में नाटक प्रस्तुत करने का प्रयास त्याग दिया। यह खेद की बात है कि उन्होंने ऐसा निश्चय किया। क्योंकि यदि वे इसे जारी रखकर अनुभव संग्रह करते कि कलात्मक अभिव्यक्ति और नये विचारों को वितरित करने के लिए माध्यम के रूप में मंच में कितनी निहित शक्तियाँ हैं, तो उन्होंने और अच्छे नाटक लिखे होते।

अन्य मार्गदर्शक कृतियाँ

वीरेशलिंगम् की मार्गदर्शक साहित्यिक कृतियाँ और छै क्षेत्रों में हैं तथा प्रत्येक के लिए एक-एक अध्याय की आवश्यकता है। लेकिन स्थान की कमी के कारण हमें इनका सर्वेक्षण एक अध्याय में ही सीमित करना होगा।

तेलुगु की प्रथम व्यंग्य रचनाएँ आपकी क़लम से निकली ही हैं। मानव के आडम्बरों का मज़ाक उड़ाने, स्त्रियों पर श्रेष्ठता जताने के बड़प्पन का भाँडा फोड़ने, उन सारे नियमों, रीतियों और रूढ़ियों की असमानता पर ज़ोर देने, जिन्हें पुरुष ने अपना विशिष्ट स्थान बनाए रखने के लिए समाज पर लादा है—सारांश यह, कि मानव-निर्मित संसार की दुश्चरित्रता दिखाने के लिए वीरेशलिंगम् ने 'गुलिवर्स ट्रैवल्स' (गुलीवर की यात्राएँ) का अपना रूपान्तरण तैयार किया। 'सत्यराजाचार्य' उनका 'गुलीवर' है। 'सत्यराज' की यात्रा जिस विचित्र देश में ले जाती हैं वह 'लिलिपुट' का राज्य नहीं वरन् पुरुषोचित आचरण करने वाली नारियों का देश 'आडुमलयालम' है। यहाँ स्त्रियाँ पैंट पहनती हैं तथा पुरुष पर कड़ाई से शासन करती हैं। वह उसे सम्पत्ति का अंग समझती हैं। जन्मतः गुलाम समझती हैं जिसे बिना किसी सवाल के उसकी आज्ञाओं का पालन करना पड़ता है। वह कुरूप हो, बीमार हो या मिरगी का शिकार हो, परन्तु उसका पति उसे तलाक नहीं दे सकता। वह अभिमानी, क्रोधी और निर्दय हो, पर वह उसे छोड़ नहीं सकता। वह चाहे झगड़ालू, दुष्टा और कर्कशा क्यों न हो परन्तु उसे (पुरुष के) विश्वासी, आज्ञाकारी होना चाहिए, सेवा के लिए तैयार होना चाहिए, नहीं तो उसे न पृथ्वी पर और न ही स्वर्ग में स्थान मिलेगा। 'आडुमलयालम' में हर चीज़ मानव-निर्मित दुनिया से उल्टी है, परन्तु अधिक समय से इस दुनिया के अभ्यास होने के कारण हममें से अधिकांश उसकी असमंजसता, अन्याय और उसकी अमानुषिकता को भूल बैठे हैं।

तेलुगु 'गुलीवर' जिस नये राज्य में पहुँचता है, वह है लंका, ब्रोब्डिंगनाग-जैसे राक्षसों की दुनिया; परन्तु यहाँ के राक्षस 'स्विफ़्ट'-वर्णित राक्षसों से अलग ढंग के हैं। ये भारतीय पौराणिक कथाओं के राक्षस है और इन्हें ज्योतिष में अपार

विश्वास है। उनके किये कुछ नहीं होता, विना ज्योतिष का संदर्भ दिये मामूली चीज़ भी नहीं की जाती। उनकी बुद्धि पूरी तरह इस कल्पित विज्ञान द्वारा नियंत्रित है। उनके बड़े आकार के सिरों में बुद्धि बहुत ही कम है। वे अपने अंधविश्वासों को गले लगाए रहते हैं और अपने अतीत की डींग हाँका करते हैं। थोड़े में कहें तो उनका संसार पुराणों का है, जहाँ पुराण और कल्पित कथाएँ तथा अन्य सब अर्थहीन बातें भरी पड़ी हैं।

यदि 'स्विफ़्ट' की तरह वीरेशलिंगम् ने दो और यात्राएँ जोड़ी होतीं तो उनकी 'सत्यराज पूर्व देश यात्रलु' (सत्यराज की पूर्वी देशों की यात्राएँ) में अधिक विविधता तथा गहराई आ जाती, परंतु जैसी हैं वैसी स्थिति में भी वे बहुत ही प्रभावशाली व्यंग्य रचनाएँ हैं। न तो वह 'गुलिवर्स ट्रैवल्स' के आधे चतुर है और न उसमें उसका चौथाई वैचित्र्य है, फिर भी वह आनन्ददायक है। 'स्विफ़्ट' की रचनाओं को रँगने वाले वैमनस्य और मानव-द्वेष का इसमें अभाव होने से यह कुछ स्थलों में तो 'गुलीवर्स ट्रैवल्स' से कहीं अधिक रोचक बन जाता है। इसका कन्नड और अंग्रेज़ी में अनुवाद हुआ था। 'सत्यराज पूर्वदेश यात्रलु' का जब प्रकाशन हुआ तो कुछ पाठक इतने भोले-भाले तथा पुराण-कथाओं और उनकी लम्बी-चौड़ी कथाओं से इस तरह प्रभावित थे कि उन्होंने बड़ी गम्भीरता से 'सत्यराज' का डाक-पता भेजने के लिए वीरेशलिंगम् को पत्र लिखा।

वीरेशलिंगम् की एक-मात्र दूसरी व्यंग्य रचना है—'अभागोपाख्यानम्'। यह पद्य में है। जैसा कि पहले उल्लेख आ चुका है, इस अधःपतित काल की तेलुगु कविता घोर शृंगार-प्रधान है; उसका शृंगार-तत्त्व इतना अपरिष्कृत है कि वह अश्लीलता की सीमा तक आ जाता है। बाद के 'प्रबंध' (महाकाव्य) कवियों की लैंगिक मनोग्रस्तिता की इस रचना में हँसी उड़ाई गई है।

तेलुगु साहित्य में वीरेशलिंगम् के दो और नवोन्मेष हैं—जीवनी और आत्मकथा। सम्पूर्ण जीवनियों के उनके विषय हैं—ईसा मसीह, राजा राममोहन राय और साम्राज्ञी विक्टोरिया। इनमें से पहली और तीसरी पुस्तक तो वे पूरी कर सके, परन्तु दूसरी पूरी न कर सके। उन्होंने बहुत-से जीवन-वृत्तान्त-संबंधी शब्द-चित्र भी लिखे। इनके क्षेत्र बहुत व्यापक हैं—शंकराचार्य से विद्यासागर तक और जोन ऑफ आर्क से लेकर एनी बेसेन्ट तक। कुल मिलाकर उनका जीवन-लेखन पर्याप्त है, लेकिन वे जीवनी-लेखन की कला पर पूरा अधिकार न पा सके। जैसा कि लिटन स्ट्रेची कहते हैं—"लेखन-कला की सब शाखाओं में से यह बहुत नाजुक और मानवीय है।" 'स्ट्रेची' आगे कहते हैं—"जैसा सम्पूर्ण जीवन जीना कठिन है, उसका लेखन भी शायद उतना ही कठिन है।" वीरेशलिंगम् ने अच्छा

जीवन व्यतीत किया, परन्तु अच्छी जीवनी लिखने में वे सफल न हो सके। पर हमें इस पर चकित नहीं होना चाहिए, क्योंकि आंद्रे मरो ने इंगित किया है—"सुघढ़ लिखित जीवनी, सुघढ़ बिताए जीवन से कहीं अधिक अप्राप्य है।" अतः इस क्लिष्टतम कला के अपने प्रवर्त्तनकारी प्रयास में वीरेशलिंगम् सफल आत्मकथा-लेखक थे। उनकी 'स्वीय चरित्रमु' गिबन की 'ऑटोबायोग्राफी' (आत्मकथा) के समान ही अच्छी है। दोनों में 'एक सहज महानता' है। हमें अपनी कहानी बताते समय, वीरेशलिंगम् न तो झूठ-मूठ ही संकोचशील हैं, और न ही गर्वीले। जहाँ उन्हें वास्तव में श्रेय मिलना चाहिए, वहाँ उसे वे लेते हैं, जहाँ भी अपनी भूलों या कमज़ोरियों को स्वीकार करने का अवसर आता है, वे उसे स्वीकार करते हैं; मानवीय सीमाओं के भीतर वे कुछ नहीं छिपाते, न किसी की ओर अनदेखा ही करते हैं। जहाँ एक ओर संतोषपूर्वक यह कहना होगा कि गरीब परिवार, शिक्षण की सीमित परिस्थितियाँ, दुबली-पतली कमज़ोर शारीरिक स्थिति, बड़ा ओहदा न होने पर भी वे सम्पूर्ण, सम्पन्न और उल्लेखनीय जीवन बिता सके, वहीं खेद भी होता है कि जल्दबाज़ी, असहिष्णुता, शीघ्र क्रोधित होना और शक्तियों को अनेक क्षेत्रों में बिखेरने के कारण अच्छे स्तर का अधिक कार्य न कर सके। इसे बताने में तथा अन्य रचनाओं में भी वे सच्चे, ईमानदार और स्पष्ट हैं। आरंभ में वे आत्मकथा लिखने के लिए आगा-पीछा कर रहे थे, परन्तु जब मित्रों ने ज़ोर दिया तो उन्हें मानना पड़ा तथा उन्होंने इसे न केवल अपने जीवन का लेखा बनाया बल्कि अपने समय का इतिहास भी। उन्होंने इसे आस्था का प्रमाण-ग्रंथ, नई रोशनी का ज्ञापन-पत्र और उत्सर्ग का बुलावा बना दिया।

साहित्य के जिस दूसरे क्षेत्र का उन्होंने मार्ग दर्शन किया है, वह है साहित्यिक इतिहास। नाटक-रचना के समान ही, इसमें भी तकनीकी ढंग से एक अग्रिम व्यक्ति हैं। सन् १८८७ में 'विवेक वर्धिनी' में 'आंध्र कवुल चरित्र' (आंध्र कवियों का इतिहास) के आरंभिक अध्याय प्रकाशित करने से पहले ही 'पोद्दापुरम्' के गुरजाड श्रीराम मूर्ति ने पुस्तिकाओं की माला जारी की थी, जिसकी प्रत्येक पुस्तिका एक-एक तेलुगु कवि की जीवनी थी। उन्होंने थोड़े ही प्रमुख कवियों को चुना था और प्रस्तुत जीवन-वृत्तान्त के लिए ऐतिहासिक शोध का आधार नहीं लिया था। कवियों के जीवन के आस-पास प्रचलित दंत-कथाओं का सहारा लेकर ही उन्होंने अपनी बात कही थी। इसे देखकर, सच्चे विद्वान् की तरह वीरेशलिंगम् बहुत क्रुद्ध हुए। उन्हें लगा कि यह सरासर अधर्म है। सही और ऐतिहासिक शोध के कड़े मानकों के अनुसार कवियों की जीवनी लिखने का भार उन्होंने अपने ऊपर लिया।

आजकल प्राप्त शिलालेखों, सिक्कों तथा अन्य प्रमाणों की ऐतिहासिक सामग्री की खोज तब तक नहीं हो पाई थी। और जो थोड़ा-बहुत खोजा भी गया था तो उसके अधिकांश भाग का ठीक-ठीक न वर्गीकरण हुआ था, न अध्ययन; और न प्रकाशन ही हुआ था। अधिकांश पुरानी पद्य रचनाएँ ताड़-पत्रों की हस्तलिखित प्रतियाँ ही थीं और वे केवल 'प्राच्य हस्तलिखित ग्रंथागार' (ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी) मद्रास, 'सरस्वती महल लाइब्रेरी' तंजौर या व्यक्तिगत संकलनों में ही प्राप्त थीं। इन भारी बाधाओं के होते हुए भी, वीरेशलिंगम् विचलित हुए बिना अपने हमेशा के उत्साह के साथ अपने काम में जुट गए। बहुत लम्बी-चौड़ी यात्राएँ कीं, मूल प्रतियाँ उधार लीं। जब लोगों ने उधार देना स्वीकार नहीं किया तो, या तो स्वयं नकल उतार लीं या नकल कराने के लिए पैसा दिया। शिलालेखों की प्रतिलिपि लेने के लिए वे संग्रहालयों में गए तथा लाइब्रेरियों में पुस्तकों तथा मूल प्रतियों से नोट्स लेने में कई महीने बिताए।

इस तरह संग्रह कर, और उस पर हुए खर्च और श्रम की चिन्ता न कर, उन्होंने इनकी छानबीन की, विरोधी मतों के पीछे सत्य को ढूँढ़कर तथा अपने निष्कर्षों को बार-बार जाँचा। अन्त में उन्होंने १८९९ में 'आंध्र कवुल चरित्र' के तीनों भाग प्रकाशित किए। ज्ञात तेलुगु कवियों में प्रथम नन्नय से लेकर गोपीनाथम् वेंकट कवि तक, २२० प्रतिष्ठित और सामान्य—सभी कवियों का वृत्तांत इसमें मिलता है। इसमें ११वीं से १९वीं शताब्दी के बीच हुए सभी कवियों के बारे में हर प्रकार की सूचना संग्रहीत है। वीरेशलिंगम् ने इसका क़रीब आधा हिस्सा दुहराकर १९१७ में नई भूमिका के साथ प्रकाशित किया। इसके बाद ही उनका देहान्त हो जाने से वे दूसरे भाग को दुहरा न सके।

उनके कुछ निष्कर्ष और कुछ कवियों की तिथियाँ बाद में ग़लत मालूम पड़ीं, परन्तु अधिकतर आज भी यह अधिकृत कार्य माना जाता है। इसने तेलुगु में ऐतिहासिक शोध के लिए बहुत ऊँचा स्तर प्रस्तुत किया। कवियों की जीवनी के रूप में भले ही इसकी योजना की गई हो पर वास्तव में तेलुगु साहित्य का यह पहला इतिहास है। लेखक के मतानुसार यह उनकी सर्वोत्तम रचना है। शायद इसके लिए उन्होंने जितना श्रम किया था, उसने इस कार्य के प्रति उन्हें पक्षपाती बना दिया हो; परन्तु सर्वोत्तम न होने पर भी निःसंशय यह ऊँचे स्तर की पुस्तक है।

'तेलुगु कवियों की जीवनी' के उप-प्रकाशन के रूप में है कोई २० पुराने कवियों की कृतियों के मुद्रित संस्करणों का प्रकाशन। संग्रह करके तथा विभिन्न ताड़-पत्रों की मूल प्रतियों को एक स्थान पर रखकर उन्होंने बड़ी बारीकी से उनका संपादन किया। इन बीस ग्रंथों में से आधे से अधिक को उन्होंने ही ढूँढ़

निकाला था, अठारह का पहली बार प्रकाशन उन्होंने ही किया। बाकी की पुस्तकों का, जो पहले छप चुकी थीं, बहुत खराब संपादन हुआ था और पाठ भी ग़लत था। उनसे पहले केवल 'सी० पी० ब्राऊन' ने ही इस प्रकार का काम, और इतने बड़े पैमाने पर किया था।

नियमित या पद्धति के अनुसार विज्ञान के प्रशिक्षण से विहीन तेलुगु विद्वान् के लिए विज्ञान-संबंधी लेखन का प्रारंभ करना शायद अविवेक लग सकता है। यदि इस कार्य को करने वाले और होते तो वीरेशलिंगम् ने इसे अपने ऊपर न लिया होता। उनके न होने से तेलुगु साहित्य की एक और रिक्तता को भरने के लिए उन्हें पग बढ़ाना पड़ा।

वर्षों के अध्ययन के बाद उन्होंने शरीर-शास्त्र और ज्योतिष-शास्त्र पर दो प्रारंभिक पुस्तकें प्रकाशित कीं। इन्हें सोदाहरण बनाने के लिए कलकत्ता और लन्दन से बड़ी रकम खर्च करके ब्लाकों के लिए उन्होंने आर्डर किया। यदि हम इस बात को ध्यान में रखें कि उनकी विज्ञानविषयक पुस्तकें तेलुगु में अपने ढंग की पहली थीं, तो वे श्रेष्ठ हैं। शरीर-शास्त्र की पुस्तक कई वर्षों तक पाठ्य-पुस्तक के रूप में उपयोग में लाई गई और उसके चार या पाँच संस्करण भी हुए, तथा हर संस्करण पिछले का सुधरा रूप था। कुछ समय बाद, उन्होंने एक और विज्ञान-विषयक पुस्तक लिखी। इसे पूरे अर्थों में जीवशास्त्र की पुस्तक नहीं कह सकते, लेकिन इसमें साठ सस्तन प्राणियों के शारीरिक ढाँचों और आदतों का वर्णन किया गया है। उन्होंने भौतिक शास्त्र और भूगोलविषयक पुस्तकें लिखने का भी प्रयत्न किया, परन्तु पूरा न कर सके।

विज्ञानविषयक लेखन का स्वयं-निर्धारित कार्य वीरेशलिंगम् ने सभ्यक्तया किया। जन्म से ब्राह्मण और पूरी तरह शाकाहारी होने पर भी, हृदय और फेफड़ों का कार्य अच्छी तरह ग्रहण कर पाने के लिए वे कसाईखाने में गए ताकि बकरे को काटते और साफ करते हुए देख सकें। मानव-शव की चीर-फाड़ देखने के लिए वे तैयार हुए, परंतु मूर्च्छित हो जाने से उन्हें थियेटर से बाहर उठाकर ले जाना पड़ा। बारीकी से शरीर-रचना-शास्त्र जानने के लिए उन्होंने मानव का पंजर खरीदा। अंतरिक्ष की वस्तुओं का अच्छा निरीक्षण कर सकने के लिए वे मद्रास की वेधशाला में गए। प्राचीन भारत में वैज्ञानिक शिक्षा का अच्छा ज्ञान प्राप्त करने और जहाँ कहीं संभव हो प्राचीन पुस्तकों से शब्दावली उधार लेने के लिए उन्होंने 'चरक', 'सुश्रुत', 'भावमिश्र', 'शालिहोत्र', 'गर्ग', 'आर्यभट्ट', 'वराह मिहिर' और अन्य विद्वानों का अध्ययन किया।

गत के जड़भार से बुद्धि को मुक्त कर सकने की अंतर्हित शक्ति वाली ज्ञान

की नवीनतम शाखाओं के रूप में वे आधुनिक विज्ञानों का स्वागत करते थे। वे मानते थे कि जब तक भारत, पश्चिम के शास्त्रोक्त ज्ञान और शोध के साथ-साथ न आ पायगा, तब तक वह आधुनिक प्रगतिशील और मजबूत नहीं हो सकता। उनके मतानुसार विज्ञानों की रानी ज्योतिष को उसके जारज संतान नक्षत्र-शास्त्र से अलग करने की इच्छा से ज्योतिष में विशेष रुचि की प्रेरणा उन्हें मिली। आंध्र-प्रदेश में इस नये अकेले आदमी के कार्यों की तुलना विस्तार में नहीं परंतु प्रभाव की दृष्टि से, फ्रांसीसी विश्वकोशकारों के पूरे दल से की जा सकती है जिनका नेतृत्व 'दीदेरो', 'द अलंब' 'वॉल्तेर' और 'तूर्गो' ने किया।

बच्चों के साहित्य के भी वीरेशलिंगम् ही प्रवर्त्तक थे। भूत और वर्तमान से अधिक अच्छे भविष्य की कामना और उसके लिए प्रयत्न करने वाले वीरेशलिंगम् की बच्चों के स्वस्थ विकास में रुचि, वास्तविक और ठोस थी। ईसप पर आधारित उन्होंने बच्चों के लिए 'नीति-कथा-मंजरी' लिखी। अच्छे-अच्छे चित्रों के साथ उन्होंने इसे दो भागों में प्रकाशित किया। 'नीति दीपिका' शीर्षक से १०१ नीति-पद्यों वाली पुस्तक, उन्होंने बच्चों के लिए तैयार की। उनके लिए कुछ पाठ्यपुस्तकें भी लिखीं।

बाकी की उनकी अधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का उल्लेख करना होगा। इनमें से दो पारिभाषिक हैं : 'संग्रह व्याकरणम्' (व्याकरण की रूप रेखा) और 'अलंकार संग्रहम्' (काव्यशास्त्र की रूपरेखा)। बाकी की दो हैं 'काऊपर' के 'जान गिल्पिन' और 'गोल्ड स्मिथ' के 'ट्रैवलर' के अनुवाद। एक पुस्तक में 'लैम्ब' के 'टेल्स फ्राम शेक्सपियर' का रूपान्तरण। 'विग्रह तंत्र' का अनुवाद पूरा करते ही उन्होंने 'संधि' का तेलुगु रूपांतर पूरा किया।

विभिन्न क्षेत्रों में वीरेशलिंगम् की रचनाओं के आनुपातिक गुणों के मूल्यांकन भले ही अलग-अलग हों, पर इसे कौन अस्वीकार कर सकता है कि मात्र संख्या, विविधता और विस्तार में ही उनका कार्य आश्चर्यजनक है। और याद रखना चाहिए कि लेखन, उनके बहुमुखी कार्य-कलापों का केवल एक अंश-मात्र था।

बाद का जीवन और प्रशस्तियाँ

वीरेशलिंगम् के जीवन में १८७६-७७ और १८९६-९७ के बीच के दो दशक बहुत ही महत्त्वपूर्ण थे। याद होगा कि १८७६ में लोकसेवा के लिए पूरा समय देने की इच्छा से धवलेश्वरम् में हेडमास्टरी से इस्तीफा देकर वे राजमन्द्री लौटे थे। अगले बीस वर्षों में उन्होंने अपना अधिकांश समय लेखन-कार्य और सुधार के प्रवर्त्तन के लिए ही व्यतीत किया। मज़ाक उड़ाए जाने, मिथ्या अभियोग, विरोध, सामाजिक बहिष्कार और प्रतारणाएँ दिये जाने पर भी उनका कार्य प्रगति करता ही गया तथा धीमी होने पर भी उसने उन्हें स्थिर मान्यता प्रदान की। बंगाल में ईश्वरचंद्र विद्यासागर, शिवनाथ शास्त्री, हेमचन्द्र सरकार और अन्य लोग; बम्बई में महादेव गोविन्द रानडे, एन० जी० चन्दावरकर और महर्षि कर्वे आदि; तथा देश के विभिन्न स्थानों के धार्मिक और समाज-सुधारक नेताओं ने बड़ी सूक्ष्मता से उनके अध्यवसाय का अनुसरण किया और उनके कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। रानडे उनके साथ नियमित पत्र-व्यवहार करते। जब राजमन्द्री में सम्पन्न सफल विधवा-विवाह का समाचार विद्यासागर को मिला तो उन्होंने हार्दिक बधाई का तार भेजा। उनकी ख्याति विदेशों में भी फैली। राजा राममोहन राय की एक प्रशंसक, 'मिस कार्पेण्टर' ने 'राय' के बालों का एक गुच्छा उन्हें उपहार में दिया, तथा 'मिस मैनिंग' ने अपनी वसीयत में पचास पौण्ड उन्हें दिए। सरकारी मान्यता की भी कमी न थी। १८९३ में उन्हें 'राववहादुर' की उपाधि दी गई। उनकी पुस्तकें अच्छी तरह बिक रही थीं। कई तो पाठ्य-पुस्तकों के रूप में स्वीकृत हुई थीं और इनसे अच्छी आय भी थी। उनके उपन्यासों, नाटकों, जीवनियों, पाठ्य पुस्तकों और उनके भाषणों को आदर्श रूप में लिया जा रहा था। 'तिक्कन्न' की कविता के समान उनके गद्य को अतुलनीय माना जा रहा था। साहित्य-जगत् 'गद्य-तिक्कन्न' के रूप में उनका आदर कर रहा था।

इतनी महत्त्वपूर्ण प्रशस्तियाँ पाने पर अन्य कोई व्यक्ति होता तो उसने सोचा होता कि अब यह सब पाकर आराम करने का समय आ गया है; परन्तु, वीरेशलिंगम् ऐसी मिट्टी के न बने थे। उनके लिए कार्य ही आराधना थी। वे नियम से

कालेज में पढ़ाते रहे, अपनी पत्रिकाओं का सम्पादन और प्रकाशन करते रहे और तीन शैक्षणिक संस्थाओं का, जिनसे उनका निकटतम संबंध था, कार्य सँभालते रहे। उन्होंने पुस्तकें लिखीं, १८७५ में स्वयं स्थापित 'प्रार्थना समाज' में साप्ताहिक प्रवचन देते रहे, समाज-सुधार-कार्यों का निर्देशन करते रहे और जनता के हित में न्यायिक लड़ाइयाँ लड़ते रहे। इस पर वे सोच रहे थे कि उनके पास पर्याप्त कार्य नहीं है। इसलिए, इन बीस वर्षों की अवधि में दीर्घकालीन योजनाओं के लिए तालुक बोर्ड और ज़िला बोर्ड की म्युनिसिपल जन-स्वास्थ्य-कमेटी के सदस्य के रूप में सेवा करते रहे। इन स्थानीय संस्थाओं की सदस्यता को उन्होंने बड़ी ही गम्भीरता से लिया। उनकी हर बैठक में उपस्थित होते, उनके कार्यों में भाग लेते और जब कभी उन्हें विश्वास हो जाता कि इन संस्थाओं के अधिकारी, चाहे भारतीय हों या विदेशी, ग़लत कार्य कर रहे हैं तो वे खुलकर उनका विरोध करते। जितना ही अधिक कार्य होता और जितना ही उसके लिए श्रम करना पड़ता, उतनी ही वह उन्नति करते। १८९७ में कालेज के अध्यापन से उन्होंने जो दो वर्ष के लिए बिना वेतन की छुट्टी ली थी, वह कार्य की कटौती के लिए न थी, बल्कि मद्रास जाकर कार्य की परिधि बढ़ाने के लिए थी। इसमें शक नहीं कि उनका चरम उद्देश्य था—अपनी रचनाओं का संकलित-संस्करण प्रकाशित करना तथा इसके साथ-साथ कुछ अन्य योजनाएँ भी थीं। संभवतः यह योजनाएँ अस्थायी प्रकृति की न थीं। यह सच है कि उन्होंने अपना पद न छोड़ा था—अब तक वे 'प्रथम तेलुगु पंडित' के पद पर पहुँच गए थे—परन्तु यदि राजमन्द्री लौटने का उनका दृढ़ विचार होता तो तीन वर्ष पहले उन्होंने मद्रास में घर न खरीदा होता, तथा उसकी मरम्मत के लिए बहुत-सा धन खर्च न किया होता और न ही राजमंद्री की सारी गृह-व्यवस्था ही समेट लेते।

मद्रास (परुसवाक्कम) में नये घर में गृहस्थी सजाते ही उसके एक भाग में उन्होंने अपना 'चिंतामणि मुद्रणालय' खोला और अपना संकलित संस्करण छापना शुरू किया। वे स्वयं ही संकलनकर्त्ता थे, स्वयं ही संपादक थे और स्वयं ही प्रूफ़ रीडर भी। आरंभ से अन्त तक वह अकेले एक व्यक्ति का काम था। निरन्तर परिश्रम करके दस बड़े भागों का मुद्रण और प्रकाशन वे दो वर्षों के अन्दर ही पूरा कर सके। 'तेलुगु कवियों की जीवनी' को तदनन्तर दो भागों में बाँटने तथा 'आत्मकथा' को जोड़ने पर उनके संकलित संस्करण में अब बारह भाग हैं और कुल मिलाकर दस हज़ार पृष्ठ हैं।

घर के एक भाग में मुद्रणालय खोलने के साथ-ही-साथ, दूसरे भाग में उन्होंने 'विधवागृह' खोला। अगले सात वर्षों के बीच उन्होंने दस विधवाओं के विवाहों

का आयोजन किया। वे सब आंध्र की ही थीं। उनसे सहायता और संरक्षण माँगने के क्षण से उनके विवाह तक, उनके रहने और विवाह का सारा खर्च उनकी जेब से ही दिया गया। स्थानीय नागरिकों से जो नैतिक और आर्थिक सहायता उन्हें मिली, वह नगण्य थी। इस उदासीनता ने, उन्हें निरुत्साहित करने की अपेक्षा अधिक कार्यदक्ष होने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने 'दक्षिण भारतीय ब्राह्म समाज' तथा 'दक्षिण भारतीय समाज सुधार संघ' का नेतृत्व स्वीकार किया। रानडे के ज़ोर देने पर १८९८ में मद्रास में सम्पन्न 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' (इंडियन नेशनल कांग्रेस) के वार्षिक अधिवेशन के साथ ही सम्पन्न 'भारतीय समाज सुधार कांग्रेस' का सभापतित्व किया। चार वर्ष बाद काकिनाडा में सम्पन्न 'मद्रास समाज सुधार सम्मेलन' के वे सभापति थे। इसके अगले वर्ष मद्रास में आयोजित 'भारतीय राष्ट्रीय ईश्वरवादी सम्मेलन' के वे सभापति चुने गए थे। उन्होंने कई और समाज-सुधारक और ईश्वरवादी सम्मेलनों का सभानेतृत्व किया था और आगे भी अनेक संस्थाओं का उन्हें नेतृत्व करना था।

मद्रास में रहते समय उन्हें पता चला कि स्थानीय ब्राह्म समाज एक लड़खड़ाते मकान में स्थित है। उसका किराया भी बाकी रहता था। इस बुरी हालत को सुधारने के लिए, अपना पैसा खर्च करके अच्छा मकान बनवाकर इस संस्था को दान कर दिया। चाहे आलंकारिक शैली में कहें या वास्तविक शैली में कहें, वे एक निपुण निर्माणकर्त्ता थे। मद्रास के 'ब्राह्म समाज' का भवन ही पहला या अन्तिम भवन न था जिसके लिए वे मुख्य रूप से ज़िम्मेदार थे। मद्रास के लिए रवाना होने से पहले, राजमन्द्री का टाउन हाल, उन्होंने अधिकांशतः अपनी ही पूँजी से बनवाया था। इस बार पूरी तरह अपने ही धन से बंगलौर में 'प्रार्थना भवन' बनवाया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, 'पीठापुरम्' के महाराजा की मदद से उन्होंने राजमन्द्री के 'थीइस्टिक हाईस्कूल' के लिए भवन बनवाया। राजमन्द्री में ही 'विधवा गृह', 'रेस्क्यू होम', टाउन हाल के लिए प्रार्थना भवन के निमित्त एक 'पूरक भवन' और 'महिला प्रार्थना समाज' के लिए एक अलग मकान, उन्होंने फिर से बनवाया। कुशल निर्माता के साथ ही ये कुशल बागबान भी थे। अपने अन्तिम वर्षों में, बंगलौर में ग्रीष्म ऋतु का समय व्यतीत करते। यहाँ पर उन्होंने अपने लिए एक ग्रीष्म-निवास खरीदा और उसकी ज़मीन पर सुन्दर बाग तैयार किया। इन्हीं दिनों उन्होंने राजमन्द्री में सुन्दर और विशाल 'राज्यलक्ष्मी गार्डन्स' की योजना तैयार की।

मद्रास में रहते समय, अचानक उन्हें बुलावा आया कि 'प्रेसीडेन्सी कालेज' के प्रथम तेलुगु विद्वान् का पद वे सँभाल लें। उन्होंने उत्तर दिया कि छुट्टी की

अवधि के अन्त में वे इस पर विचार कर सकेंगे। परन्तु 'शिक्षा निदेशक' ने ज़ोर दिया कि वे तुरन्त काम पर आ जायँ और उन्होंने 'कोक्कोंडा वेंकटरत्नम्' को 'प्रेसीडेन्सी कालेज' से राजमन्द्री के 'आर्टस् कॉलेज' में स्थानांतरित कर दिया। यद्यपि अपनी नियुक्ति और तत्संबंधी कोक्कोंडा के स्थानांतरण के लिए वीरेशलिंगम् ने कोई प्रयत्न नहीं किया था, परन्तु उनके आजीवन विरोधी ने इसे ग़लत समझा। राजमन्द्री में 'केन्द्रीय कारागार' (सेन्ट्रल जेल) के होने तथा उससे लगकर विशाल गोदावरी नदी के वहने के कारण 'गोदावरी स्नान' का प्रयोगात्मक अर्थ 'कारावास' हो गया है। राजमन्द्री पहुँचते ही कोक्कोंडा' ने वीरेशलिंगम् को कटु पत्र भेजा, जिसके अन्त में उन्होंने लिखा: "तुम्हारी कृपा से ही मुझे 'गोदावरी स्नान' का लाभ प्राप्त हो सका।"

प्रान्तीय शिक्षा विभाग ने वीरेशलिंगम् के प्रति वहुत भद्रता दिखाई। विभाग ने उन्हें 'पाठ्य पुस्तक कमेटी' का सदस्य, 'द्रविड भाषाओं के अध्ययन संकाय' का सदस्य और सब कलक्टरों की भाषा-परीक्षा के लिए तेलुगु परीक्षक नियुक्त किया। मद्रास विश्वविद्यालय ने भी उनका सम्मान किया और उन्हें 'फ़ेलो' (Fellow) वनाया तथा कई वर्षों तक प्रधान तेलुगु परीक्षक बनाया।

उन्हें मद्रास के विरुद्ध कोई शिकायत न थी, सिवा इसके कि राजमन्द्री में जितने वेग से उनकी समाज-सेवी गतिविधियों ने प्रगति की, उतनी वे यहाँ न कर पा रही थीं। वैसे उनके पास भरपूर कार्य था और उनका वहुत आदर भी किया जाता था। फिर भी उन्हें बहुत अकेलापन लग रहा था। बचपन के दृश्य, युवावस्था में अपना पैर जमा सकने के लिए किये गए संघर्ष, अपने पौरुषीय जीवन के आरंभिक कड़वे-मीठे संघर्ष तथा सहस्रों मधुर स्मृतियाँ उन्हें अपने निज के शहर की ओर बुला रही थीं। अतः तकनीकी ढंग से अपनी सेवा-अवधि से एक वर्ष पहले अवकाश प्राप्त करने के लिए आज्ञा माँगी। उच्च अधिकारियों की अनिच्छा के कारण कुछ देर से अनुमति मिली। मद्रास का अपना घर तथा अन्य सम्पत्ति बेचने के नौ महीनों के बाद वे राजमन्द्री लौटे। उन्हें २४) रुपये मासिक पेंशन मंज़ूर की गई।

सन् १९०५ के आरंभ में राजमंद्री लौटने पर वीरेशलिंगम् ने अपने कार्य के टूटे धागों को सहेजना शुरू किया। यह सरल कार्य न था। उनके अधिकांश पुराने मित्र और सहयोगी या तो दिवंगत हो गए थे या स्थान छोड़कर चले गए थे। सात वर्षों की उनकी अनुपस्थिति में शहर में कई नये चेहरे उभर आए थे। विद्यार्थी वर्ग के साथ वे अब निकटतम संवंध स्थापित न कर रहे थे। इस पर उनकी आयु यौवन से परे पाँचवें दशक के उत्तरार्ध में पहुँच चुकी थी, जिसकी

उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। फिर भी, अपनी कार्य-गति पाने में उन्हें बहुत देर न लगी।

पुनरुत्थान-शक्ति उनमें ऐसी थी कि वापसी के कुछ ही महीनों के अन्दर नये सिरे से बालिका पाठशाला, साप्ताहिक पत्रिका, विधवा गृह, नारी निकेतन (रेस्क्यू होम) और अनाथालय, वे पुनः स्थापित कर सके। अपने निधन के बाद भी कार्य संचालन होते रहने के लिए उन्होंने १२ दिसंबर १९०६ को ३६ सदस्यों से 'हितकारिणी समाज' की स्थापना की और इसे अपनी सारी अचल सम्पत्ति, हाथ की रकम, कॉपी राइट, पुस्तकालय और बीमा पॉलिसी का उत्तराधिकारी बना दिया। इस दान की कुल कीमत ४१,५०० रुपये थी। इसकी हर पाई उनके पसीने की कमाई थी। जीवन-पर्यन्त अपने निजी खर्च के लिए न कभी उन्होंने आर्थिक सहायता स्वीकार की, न कीमती उपहार लिया। 'विजयनगरम्' और पिठापुरम् के महाराजाओं की बड़ी रकमों वाले दान को उन्होंने कड़ाई से लौटा दिया था। एक बार की बात है कि जब वे 'विजयनगरम्' के महाराजा के अतिथि थे तो जान-बूझकर बिना अपने मेज़बान को बताए रेलगाड़ी से राजमन्द्री लौट आए; क्योंकि दूसरे दिन विशेष दरबार में उन्हें भेंट दी जाने वाली रक़म को वे सबके बीच अस्वीकार करने की नाज़ुक स्थिति को टालना चाहते थे।

अधिक समय तक निरन्तर कार्य करने तथा ग्रीष्मारंभ की गर्मी से १९०७ में वे बेहोश हो गए और कई सप्ताह तक बिस्तर पर लेटे रहे। उन दिनों दौरे पर आए 'शिवनाथ शास्त्री' उनके पास ठहरे। वीरेशलिंगम् ने कलकत्ता जाने की इच्छा प्रकट की, परन्तु 'शास्त्री' जी ने इसे कुछ समय तक टालने की सलाह दी। वीरेशलिंगम् के लिए विचार करने का अर्थ था कार्य करना। इसलिए, 'शास्त्री' जी के साथ वीरेशलिंगम् अपनी पत्नी को साथ लेकर अप्रैल में कलकत्ता के लिए रवाना हुए। उन्होंने भुवनेश्वर में यात्रा स्थगित की और शहर तथा आस-पास के सारे दर्शनीय स्थल देखे। कलकत्ता में वे शास्त्री जी के अतिथि थे। शहर में उन्हें बहुत सम्मानित किया गया। 'साधारण ब्राह्म समाज' जिसकी मूल धारा शास्त्री थे, के अतिरिक्त 'आदि ब्राह्म समाज' और 'नव विधान समाज' ने उन्हें मानपत्र दिए। अपने मित्रों और प्रशंसकों के बीच अति व्यस्त सप्ताह व्यतीत करके वे लौटे और इस बार 'कटक' में यात्रा स्थगित की। यहाँ भी कई सार्वजनिक सभाओं में उनका आदर किया गया।

इसके शीघ्र बाद पत्नी के साथ वे बँगलौर गए और वहीं गर्मी बिताई। इस शहर में यह उनकी पहली यात्रा थी। आगामी कुछ वर्षों में वे यहाँ प्रत्येक ग्रीष्म-काल बिताने के लिए आते। कर्नाटक की पहली यात्रा के समय वे मैसूर, कोलार,

शिवसमुद्रम् तथा कुछ अन्य स्थानों में गए और हर स्थान पर उन पर सत्कारों की वृष्टि हुई।

उनकी अगली बड़ी यात्रा १९०९ में हुई जब वे 'हितकारिणी समाज' के लिए पैसा इकट्ठा करने सिकन्दराबाद, बंबई, पूना और बेळ्ळारी गए। इस बार भी उनकी पत्नी साथ थीं और हर स्थान पर उनका भव्य स्वागत किया गया। बम्बई में वे 'इंडियन सोशल रिफ़ार्मर' (भारतीय समाज सुधारक) पत्रिका के प्रसिद्ध सम्पादक के० नटराजन के अतिथि थे। उनके सम्मान में सम्पन्न समारोह का अध्यक्ष पद न्यायाधीश 'चंदावरकर' ने ग्रहण किया। के० नागेश्वर राव ने, जो बाद में आंध्र के बड़े प्रमुख नेताओं में एक हुए, 'हितकारिणी समाज' के लिए ९०० रुपये जमा करने में नटराजन जी का साथ दिया। पूना में वे महर्षि कर्वे के अतिथि थे और महर्षि द्वारा संचालित 'विधवा गृह' के कार्य का अध्ययन करने के लिए उन्होंने एक दिन का समय अलग से रखा था। यात्रा के प्रथम चरण में डॉ० एम० गोविन्दराजुलु नायुडु और उनकी पत्नी सरोजिनी नायुडु ने सिकन्दराबाद में उनका सत्कार किया। सरोजिनी बीमार थीं, परन्तु अपने बिस्तर के पास अपने बच्चों को बुलाकर उन्हें वीरेशलिंगम् का परिचय 'प्रिय दादा जी' कहकर दिया। वे उनकी बहुत ऋणी थीं, क्योंकि उनके विवाह के अवसर पर वीरेशलिंगम् ने पुरोहित का काम स्वीकार किया था।

इसके बाद का जो वर्ष बीता वह वीरेशलिंगम् के जीवन में अत्यन्त अंधकारपूर्ण था। अगस्त की ११ तारीख को उनकी पत्नी का नींद में ही देहान्त हो गया। हमेशा की तरह ही वे सोने चली गई थीं। ऊपरी तौर पर उनका स्वास्थ्य अच्छा ही था; परन्तु उनका अन्तिम क्षण अचानक ही आया। उनके पति ने किसी अनपेक्षित स्थिति की अपेक्षा न की थी; इसलिए, सवेरे के समय उन्हें आश्चर्य हुआ कि क्यों वे इतनी देर तक सो रही हैं। डाक्टर को बुलाया गया और जब उन्होंने बताया कि वे अब नहीं रहीं तो उन्हें विश्वास नहीं हुआ। उस दिन की डायरी में यह लिखा था—

> "किसी पुरुष पर जो सबसे बड़ा दुर्भाग्य पड़ सकता है वह मुझ पर रात एक बजे आ पड़ा—मेरी प्रिय पत्नी राज्यलक्ष्मी ने, हृदय की गति बन्द हो जाने से, अंतिम साँस ले ली···उसकी आत्मा ईश्वर के पास शान्ति से रहे।"

पत्नी के मरने के बाद वीरेशलिंगम् में वह पहले का व्यक्तित्व न रहा। न उनमें वह उत्फुल्लता थी, न वह संघर्ष करने की भावना; और न जीवन के प्रति वह अनुराग। पत्नी के निधन के बाद वे नौ वर्ष जीवित रहे, पर ये वर्ष उनके लिए

दुःख, दर्द और निराशा के थे। वे साथ में थीं तो उन्होंने विना किसी झिझक के हर कमी, निन्दा या आशय का सामना किया था। परन्तु उनके विना वे अपने को अकेला, दुर्वल और निस्संग अनुभव करते थे। उनकी वृद्धावस्था में उनके विरोधियों की संख्या घटी नहीं, उल्टी और वढ़ गई। वे लोग नीच और प्रतिहिंसावादी थे तथा अनैतिक वार करने से न चूकते थे। अपने गन्दे विचारों और गन्दी वातों से उन्होंने वीरेशलिंगम् के जीवन के अन्तिम वर्षों को अंधकारमय बना दिया। अंत तक वीरेशलिंगम् उनसे लड़ते रहे यद्यपि वह अव पहले का साहस न जता सकते थे। बसवराजु गवरराजु के वाद उनके निकटतम सहयोगियों में से एक, देसिराजु पेद वापय्या के १९०९ में निधन ने उनके मन के अकेलेपन को और वढ़ा दिया।

जीवनपर्यन्त कार्यरत व्यक्ति के अनुरूप ही, वीरेशलिंगम् का अन्तिम क्षण भी कलम हाथ में लिये लिखते समय आया। 'विज्ञान चन्द्रिका ग्रंथ मंडली' नामक तेलुगु की प्रसिद्ध घरेलू पुस्तकालय योजना के निर्माता के० वी० लक्ष्मणराव के पास मद्रास में, १९१९ में, वे ग्रीष्मकाल विता रहे थे। इन्होंने ही वीरेशलिंगम् पर आत्मकथा लिखने के लिए ज़ोर दिया था। अपनी दृढ़ता के कारण ही वे वीरेशलिंगम् को राज़ी कर सके कि तीसरे भाग के साथ ही 'आत्मकथा' पूरी की जा सकती है। लक्ष्मणराव के मद्रास-निवास, 'वेद विलास' में रहते समय वीरेशलिंगम् ने आत्मकथा का सूत्र वहीं से पकड़ा जहाँ उन्होंने पहले छोड़ दिया था। उनके हाथ काँपते थे, दृष्टि कमज़ोर थी, फिर भी कुछ ही दिनों में उन्होंने क़रीव ४० पृष्ठ लिख डाले। मई की २७वीं तारीख को वे ४५वाँ पृष्ठ लिख रहे थे कि एक वाक्य के मध्य में ही कलम गिर पड़ी। जन्म से लेखक के लिए यह वात अति प्रतीकात्मक थी। वे तत्क्षण समझ गए कि वे यात्रा के छोर पर पहुँच गए हैं। घर शान्त था, अमंगलकारी ढंग से शान्त था। लक्ष्मण राव घर से वाहर थे, परन्तु उनके युवा मित्र और साथी डॉ० ए० लक्ष्मीपति निचली मंज़िल में कहीं थे। वीरेशलिंगम् ने उन्हें वुला लिया और इस युवा डाक्टर को 'आत्मकथा' के लिखे गए पृष्ठ सौंप दिए तथा अपना विदाई संदेश लिखवाया। वह इस प्रकार था—

> "अपने जीवन में हाथ में लिये अनेक कार्यों को पूरा किये विना ही मैं जा रहा हूँ। मैं आशा करता हूँ और विश्वास करता हूँ कि मेरे मित्र और साथी, तथा सुधार के प्रेमी मेरा अधूरा कार्य चालू रखेंगे। हमारे लोगों का वहुतेरा भाग अज्ञान और अंधविश्वास से दवा हुआ है और वे जीवन की सारी अच्छी चीज़ों से वंचित हैं। यह आपका कर्तव्य है कि उन्हें शिक्षा और प्रकाश, संस्कृति और स्वतंत्रता, समानता और न्याय दो। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ, याचना करता हूँ कि इन लाखों

मूक लोगों के लिए जितना बन सके, करें।"

अन्तिम साँस के साथ ही उन्होंने अपना अंतिम संदेश पूरा किया। उस अँधियारे दिन, एक महान् जीवन का समापन हुआ, और भारत अपने एक वीर, सज्जन और महान् बेटे को खो बैठा।

व्यक्ति और उनकी सफलताएँ

वीरेशलिंगम् पर प्रकृति विशेष दयालु न थी। उसने न तो उन्हें अच्छा शरीर दिया, न तगड़ा स्वास्थ्य दिया और न ही समरूप स्वभाव। इन अनेक शारीरिक कमियों और स्वभावगत दोषों को इच्छा-शक्ति के सर्वोत्तम प्रयास से कई सुविधाओं में बदल सकने में ही उनका बड़प्पन निहित है। अपनी शारीरिक कमज़ोरी के कारण होने वाले चिड़चिड़ेपन को उन्होंने सारे अंधविश्वासी आचरणों और डरों के प्रति असहनशीलता में बदल डाला। दमे के कारण निद्राहीन लम्बी रातों को उन्होंने गंभीर कार्य के लिए लम्बी बैठकों में बदला। हर चीज़ में अपनी इच्छा का मार्ग अपनाने के मनोवेग को उन्होंने कठिनतम कार्यों के बीच से सफल मार्ग निकालने के लिए शीघ्र और प्रभावशाली पद्धति में बदल डाला। ऊँची-ऊँची क्रोधाग्नि की लपटों से उन्होंने लपकती तलवार बनाई जिससे वे उन सभी अन्यायों और अमानुषीय व्यवहारों से जूझ सकें जो भद्रता और समंजसता के उनके विचारों को भड़काते थे। अंततः अपनी नितान्त दृढ़ता और निष्ठा भावना से उन्होंने हिमालयी शक्ति प्राप्ति की जिसके द्वारा वे अपने पथ का हर कंटक दूर कर सके।

शारीरिक गठन और वेशभूषा—दोनों से ही उनका प्रभाव नहीं पड़ता था। कद से छोटे और शरीर से कृश; अधिकतर धोती और बन्द कॉलर का कोट पहनते तथा पगड़ी बाँधते। सर्दी के दिन होते तो गले में मफ़लर लपेट लेते। धोती सीधी-सादी और साफ होती, कोट का रंग उड़ा-उड़ा तथा वह गुड़ामुड़ा होता। पगड़ी, जैसे रस्सियों से बाँध दी हो और मुश्किल से ध्यान दिया गया हो। परंतु, इस सबके पीछे उस व्यक्ति की असंदिग्ध भव्यता थी जिसने संसार के दुःखों को अपना बना लिया था।

उनका जीवन क्रांतिपूर्ण था और उनकी आवश्यकताएँ नहीं के बराबर थीं। व्यक्तिगत खर्च के प्रश्न पर कंजूसी की सीमा तक वे कमखर्चीले थे। यदि आत्म-रंजन नाम किसी को दे सकते हैं, तो वह उनके बागवानी के शौक़ को। बंगलौर के अपने बाग तथा उससे भी अधिक राजमन्द्री के बाग़ के लिए, जिसका

नामकरण उन्होंने अपनी पत्नी के नाम पर किया था, धन व्यय की चिंता किये विना अप्राप्य और विदेशी पौधों को भारत के हर भाग से उन्होंने मँगवाया तथा पिता-सदृश प्रेम से उनकी देख-भाल की। अपनी वृद्धावस्था में प्रतिदिन वे वाग में, उनके लहलहाते ज्वारभाटे वाले सौंदर्य, सम्पन्नता और ताज़गी को देखते, प्रसन्न होते और घंटों विताते। संभवतः उद्यान उनके लिए सम्पन्न समाज का प्रतीक था, जो सदा ताज़ा औरसुगंधिपूर्ण हो तथा नित नूतन निर्मित होता हो।

वह अच्छे और क्रियाशील व्यवस्थाकार थे। सामाजिक धन के वारे में एकदम चोखे। हाथ में दी गई रकम का पाई-पाई का हिसाव देते। थोड़ी रकम को अधिक समय चला सकने की उनमें विशेषता थी। वे कठिन अनुशासन वाले व्यक्ति थे। आलस्य और अव्यवस्था सह न पाते। जिसे आज कर सकते हों उसे कल के लिए टालने की अनुमति किसी को न देते। सदाचार और कार्यक्षमता के उन्होंने अपने लिए मानक निर्धारित किये थे और अपेक्षा करते थे कि उनके सहयोगी भी उन स्तरों तक पहुँच सकें। कोंडा वेंकटप्पय्या ने रमावाई रानडे के 'विधवा गृह' को देखकर जव छिछले स्तर की प्रशंसा की तो उन्हें फटकारते हुए रमावाई ने वास्तव में व्यवस्थापक के रूप में वीरेशलिंगम् की वड़ी प्रशंसा की थी। वे वोलीं: "वीरेशलिंगम् के आंध्रदेश से आने वाले व्यक्ति द्वारा हमारी संस्था की प्रशंसा करना, वास्तव में वड़ा विचित्र-सा लगता है।"

वीरेशलिंगम् का ध्येय था 'कर्म, धर्म नहीं।' यह वात नहीं कि उनका कोई धर्म न था। उनका भी धर्म था और वे वड़ी लगन व दृढ़ता से उसका पालन करते थे। परंतु उनका सारा ज़ोर कर्म पर था। धार्मिक होने के नाते वे अपने भगवान् की प्रार्थना करते थे। अपने समय में औरों की तुलना में उन्होंने ही सवसे अधिक प्रार्थना-भवनों का निर्माण किया था। फिर भी वे लम्वी प्रार्थना को सह न सकते थे। कहा जाता है कि राजमन्द्री में जव 'प्रार्थना समाज' में प्रार्थना सभा लम्वी होती जा रही थी, तो उसे वीच में ही समाप्त करने के लिए उन्होंने मंगलम्' (दक्षिण में संगीत-गोष्ठियों का अंतिम समापन-गीत) गा दिया। उनके लिए सवसे अच्छी प्रार्थना थी, कार्य, अधिक कार्य, जो निस्वार्थ ढंग से और ईमानदारी से किया जाय।

जीवन और उसकी समस्याओं के प्रति उनके दृष्टिकोण ने ही वीरेशलिंगम् के साहित्यिक कार्य की रूपरेखा और उसका विस्तार निर्धारित किया। केवल आत्म प्रकाशन और कलात्मक पारितोषण के लिए ही उन्होंने न लिखा किन्तु उनके लेखन ने उन्हें अधिक अच्छे और अधिक वड़े क्रियाशील व्यक्ति वनने में मदद दी। लेखककी आजीविका के काफ़ी आरंभिक काल में, जैसे कि

पहले समझाया जा चुका है, उन्होंने अपने जीवन का दर्शन निर्धारित कर लिया था और इसका अर्थ था अपने गत से एकदम अलग हो जाना। जैसा कि सी० आर० रेड्डी ने लिखा है—

> "साहित्यिक क्षेत्र में उन्होंने पंडिताऊ शैली में लिखना आरंभ किया और स्पष्ट सरल गद्य, सौंदर्य और तर्क से भरी सहज बुद्धि वाली सबसे सुन्दर और सबसे भव्य शैलीकार के रूप में वे सामने आ सके। 'श्लेष', 'चित्रकविता' और हर प्रकार की गंदी कृत्रिमताओं से भरे 'प्रबंध' (महाकाव्य) से लिखना आरंभ कर तेलुगु उपन्यास, तेलुगु सामाजिक व्यंग्य; तेलुगु नाटक, विशेषकर सामाजिक ढंग के, विज्ञान और वैज्ञानिक जीवनी और तेलुगु में आत्मकथा-लेखन के सृष्टिकर्त्ता के रूप में पहुँच गए।"

यह सच है कि वीरेशलिंगम् की अधिकांश साहित्यिक रचनाएँ कुछ-न-कुछ पुरानी पड़ गई हैं। पहली बार के प्रकाशन-समय की नवीनता अब नहीं रही। लिखते समयकी जल्दी और तीव्रता की मार भी उसे सहनी पड़ी है। वे कभी अपनी कृति दुहराते न थे, पहला प्रारूप ही अंतिम प्रारूप होता। जैसे ही पृष्ठ का अंतिम शब्द लिखते, उसे तुरंत वे मुद्रणालय भेज देते। वास्तव में उनके लिखने के कमरे में छोटा छेद था, जिसमें से वे पृष्ठ डालते और वह सीधे मुद्रक के हाथों नीचे पहुँच जाता। जहाँ न क्षण-भर का विराम हो, न दुहराया जाना हो, वहाँ ऐसी त्वरित गति के लेखन में गुण की असमानता अवश्यम्भावी है। वीरेशलिंगम् स्वयं इससे अनभिज्ञ न थे। लेखक के रूप में अपने योगदान के बारे में 'आत्मकथा' में लिखते हुए वे कहते हैं कि यदि वे अपनी कृतियों को अधिक समय दे पाते और उन पर अधिक ध्यान देते तो बहुत संभव है कि वे कहीं अधिक अच्छा लिख पाते। वे आगे लिखते हैं —

> "जब मैंने शुरू किया तो तेलुगु साहित्य की शाखाएँ न थीं। 'कई' क्यों न कहें, उसमें गद्य का नाम तक न था। इसलिए, पहली बार ही हर चीज़ का निर्माण करना पड़ा। मेरी पीढ़ी के लेखकों को सीधी चढ़ाई चढ़नी पड़ी···पहले प्रयास शायद ही परिपूर्ण होते हैं। स्वाभाविक रूप से कई दोष घुसे चले आते हैं। कहीं ग़लती न करें, इस डर से यदि नये पथों पर न बढ़ें, तो हम प्रगति कैसे करेंगे? मेरे प्रथम प्रयास, कितने भी दोषभरे और लड़खड़ाते क्यों न हों, नई पीढ़ी के लेखकों के लिए अच्छा लिखने और अधिक अच्छी पुस्तकें तैयार करने के लिए संभव है, सहायता करें।"

आज जो अपने को ऊर्ध्वगामी लेखक मानकर गर्व करते हैं तथा 'धरातलीय' और 'असृजनात्मक' कहकर वीरेशलिंगम् को एक ओर हटा देते हैं, उन्हें याद रखना होगा कि इसी व्यक्ति ने पंथहीन जंगल से कई पथ निकालकर मार्ग प्रदर्शन के लिए मार्ग-दर्शी पट्टियाँ उनके लिए लगाई थीं। लेखक तथा सुधारक दोनों रूपों में, वे मार्ग दर्शक थे। डॉ० वी० रामकृष्ण राव के शब्दों में, "दम-घोंटू विष-वृक्षों को गिराना, सड़ी-गली झाड़ियों को जलाना, क्षुधार्त्त पशुओं का शिकार करना, ज़हरीले सर्पों को नष्ट करना, अलंघ्य पर्वतों को भेदकर राह बनाना, चुभने वाले शूलों को दूर करना उनके विशिष्ट कार्य थे और सर्वोत्तम सफलताएँ थीं।"

अपने अधिकांश लेखन में जिस जल्दी और तीव्रता, गति और उद्रेक की श्वेत गर्मी से उन्होंने काम किया वे शायद सृजनशील लेखक वीरेशलिंगम् के दोष सिद्ध हुए हों, परंतु आन्दोलनकारी वीरेशलिंगम् के लिए ये निश्चित रूप से सहायक थीं। इस दूसरे कार्य के लिए बेचैन, सदा तत्पर, सदा सजग, छेड़ने और उकसाने वाली, चुनौती और दंड देने वाली कलम की व्यक्ति को आवश्यकता है। उसे न तो भाव-प्रकाशन की सुघड़ता की आवश्यकता होती है और न ही भावनाओं की कोमलता। वह तेज़ तलवार की तरह आर-पार काटती है। उसे न केवल वार करने के लिए निडर होना चाहिए, बल्कि घाव भी करना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर अक्खड़ खोपड़ियों को तोड़ने के लिए हथौड़ा होना चाहिए। वीरेशलिंगम् की कलम में यह सारे गुण थे। सी० आर० रेड्डी ने सुझाया था कि वीरेशलिंगम् की समाधि पर रखने के लिए तलवार ही सही प्रतीक है; इसके साथ हथौड़ा भी जोड़ देना चाहिए।

विद्यासागर, रानडे, और अपने समय के कुछ अन्य समाज-सुधारकों की तरह वीरेशलिंगम्, राजनैतिक दृष्टिकोण के लिए मध्यपथ अपनाने वाले थे। वे देशभक्त थे और राजनैतिक स्वाधीनता का आदर्श सँजोए थे। परन्तु उनका विश्वास था कि जो भी हो अंग्रेज़ों के सम्पर्क का भारतीय जनता के जीवन पर उदार प्रभाव पड़ा। वे मानते थे कि दम घोंटने वाली और प्रभावहीन सभ्यता तथा संस्कृति में यह स्वतन्त्रता की साँस और तर्कशील विचार-धारा ला रही थी। वे निश्चयपूर्वक कहते थे कि हम राजनैतिक स्वतन्त्रता से पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहते हैं तो इससे पहले धार्मिक, सामाजिक और शैक्षणिक सुधार होने चाहिएँ। उनका मत था कि अज्ञान और अंधविश्वासों से सिक्त जनता अपने लिए, अपने द्वारा न तो प्रबुद्ध सरकार चला सकती है और न ही बहुमुखी प्रगति प्राप्त कर सकती है। यहाँ उनके सहयोगी को लिखे पत्र में से उनके राजनैतिक नियम पत्र से उद्धरण

दिया जाता है—

> "तुम सोचते हो कि मैं राजनैतिक कार्य के विरुद्ध हूँ। धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र की ही तरह राजनैतिक क्षेत्र में भी मैं स्वाधीनता चाहता हूँ। जब तक हम अपने धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों को नहीं सुधार लेते तब तक राजनैतिक स्वतंत्रता के फलों का आनन्द-लाभ नहीं कर सकते। समाज-सुधारकों के रूप में हम अपने देश की अच्छी सेवा कर सकते हैं।"

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के वे आरंभिक सदस्यों में से एक थे। सरकारी कालेज में काम करते रहने पर भी मद्रास में १८८७ में सम्पन्न भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के तीसरे वार्षिक अधिवेशन में प्रतिनिधि के रूप में उन्होंने भाग लिया। मद्रास में पहली बार यह अधिवेशन हुआ था। इससे दो वर्ष पहले राजमन्द्री में उन्होंने कांग्रेस के लक्ष्यों और उद्देश्यों के बारे में विशेष भाषण दिया था। उन्होंने इसमें जो भी कहा था, उसमें उनका पूरा विश्वास था, इसलिए, उन्होंने इस भाषण को अपने संकलन में रख लिया। परन्तु जिनके नारों से—'स्वाधीनता पहले, बाकी सब बाद में'—वे सहमत न थे, उनकी वे प्रशंसा न कर सके और न ही 'वंदेमातरम्' आंदोलन का स्वागत कर सके; जिसने लार्ड कर्जन द्वारा स्वच्छन्द और उच्छृंखल बंगाल के विभाजन के कारण सारे देश को भड़का दिया था। इसने वीरेशलिंगम् को बहुत अप्रिय बना दिया, विशेषकर 'वन्देमातरम्' आन्दोलन के तूफ़ानी सेनानी 'विपिनचन्द्र पाल' की आंध्रदेश-यात्रा के समय और उसके बाद। १९०७ में 'पाल' की राजमन्द्री-यात्रा के बाद ही तथा उनके उभाड़ने वाले भाषणों से कुछ मार्गभ्रष्ट युवकों ने वीरेशलिंगम् की खिल्ली उड़ाई और उन्हें 'कायर' कहा। इसने उन्हें गहरी चोट पहुँचाई। उन्होंने किसी अन्य गालियों-भरे उपनाम की ओर ध्यान न दिया होता परन्तु इसे नहीं। जिस एक गुण के लिए उन्हें सदा प्रशंसा मिलती रही, वह थी निडरता। 'कायर' कहकर जब उन पर चोट की गई तो यह घाव वर्षों तक चुभता रहा। फिर भी वह, उनसे उनकी राजनैतिक धारणाएँ बदलवा न सका था मनचाहा नाच न नचा सका। दुगुने उत्साह और निश्चय से अपने चुने ध्येय पर वे बढ़ते गए। अपने प्रति सच्चे रहकर, तथा जिसे वह अपने जीवन का कार्य मानते थे, उसे ईमानदारी व साहस से पूरा करके वीरेश-लिंगम् युगप्रवर्तक बन गए। जैसा कि सी० आर० रेड्डी ने लिखा है—

> "सबका लेखा-जोखा करें तो आधुनिक काल में वीरेशलिंगम् सबसे महान् आंध्रवासी हैं। युग के उत्थान का निष्कर्ष उनके व्यक्तिगत इतिहास में है। अधिकांश लोग युग को, जिसमें वे होते हैं, प्रकाशित

किये विना ही जीते हैं। न वे प्रकाश देते हैं, न उसे ग्रहण करते हैं। नायक वह होता है जो नई भावधारा को ग्रहण भी करता है और प्रदान भी करता है, जो प्रगति और परिवर्तन का उर्वरक सिद्धान्त होता है, जिसके विना जीवन मात्र गतिहीन हो जाता है और दुख-दायी हो जाता है। वीरेशलिंगम् ने नये युग को प्रतिविम्वित किया, क्योंकि वह उसके सक्षम निर्माता थे। यदि वह उसके निर्माता थे तो इसलिए कि कुछ अंशों में वे उससे जन्मे थे। क्योंकि, वही निर्माण कर सकते हैं, जो अपनी नस-नस में समय की भावधारा को भरने देते हैं।"

रेड्डी से भी आगे बढ़कर हम मान सकते हैं कि वीरेशलिंगम् न केवल आंध्रदेश के एक युग के 'एक सक्षम निर्माता' थे, परंतु उसके एकमात्र शिल्पी थे। जैसा कि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा है, "यदि राजा राममोहन राय 'भारत के प्रथम आधुनिक व्यक्ति' थे तो वीरेशलिंगम् 'दक्षिण भारत के प्रथम आधुनिक व्यक्ति' थे।" शत्रुओं के लिए आतंक, कई घोर संघर्षों के नायक, मुक्त विचारों और निर्भय कार्यों के केन्द्र-विन्दु, प्रगति के ध्वजारोहक, वे वड़े साहित्यकार थे, वड़े शिक्षा-शास्त्री थे, वड़े सुधारक थे और सवसे अधिक मानव थे।

प्रमुख रचनाओं की सूची

'मार्कण्डेय शतकम्' और 'गोपाल शतकम्'—१८६८-६९
रसिकजन मनोरंजनम्—१८७०-७१
शुद्धांध्र निरोष्ट्य निर्वचन नैषधमु—१८७१
शुद्ध आंध्र उत्तर रामायणमु—१८७२
नीति चन्द्रिका, विग्रहमु (पंचतंत्र)—१८७४
नीति दीपिका (सौ पद्यों का संग्रह)—१८७५
ऑन गिल्पिन ('काउपर' की कविता का अनुवाद)—१८७५
संग्रह व्याकरणमु (तेलुगु व्याकरण की रूपरेखा)—१८७५
'द कॉमेडी ऑफ एरर्स' (शेक्सपियर के नाटक का अधूरा पद्य-रूपांतर)—१८७५
अभागोपाख्यानमु (व्यंग्य)—१८७६
पदार्थ विवेचक शास्त्रमु (रसायन शास्त्र : कुछ प्रश्न और उत्तर)—१८७७-७८
ब्रह्म विवाहमु (सामाजिक नाटक)—१८७८
नीति चन्द्रिका—संधि ('पंचतंत्र' का अनुवाद)—१८७८
शुद्ध आंध्र भरत संग्रहम्—१८७९
व्यवहार धर्म बोधिनी (सामाजिक नाटक)—१८७९
रत्नावली (हर्ष के नाटक का अनुवाद)—१८८०
विवेक दीपिका (नाटक)—१८८०
वेन्नीसु वर्तक चरित्रमु (शेक्सपियर के नाटक 'द मर्चेण्ट ऑफ वेनिस' का अधूरा अनुवाद)—१८८०
राजशेखर चरित्र (उपन्यास)—१८८०
चमत्कार रत्नावली ('द कॉमेडी ऑफ एरर्स' का गद्य में रूपांतरण)—१८८०
सत्यवती चरित्र (नीति कथा)—१८८३

शाकुंतलमु (कालिदास-कृत 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' का अनुवाद)—१८८३
सत्य-द्रौपदी संवादमु (पद्य में वार्तालाप)—१८८३
चंद्रमती चरित्रमु (स्त्रियों के लिए गद्य-कथा)—१८८४
स्त्री नीति दीपिका (बालिका विद्यालयों के लिए उपयोगी
सौ पद्यों का संकलन)—१८८४
प्रह्लाद नाटकमु (पौराणिक नाटक)—१८८५
प्रबोध चन्द्रोदयमु (कृष्ण मिश्र के नाटक का अनुवाद)—१८८५
मालविकाग्निमित्रमु (कालिदास के नाटक का अनुवाद)—१८८५
दक्षिण गोग्रहणमु (पौराणिक नाटक)—१८८५
राग मंजरी (शेरिडन के 'डुएन्ना' का अनुवाद)—१८८५
सत्य हरिश्चंद्र नाटकम् (पौराणिक नाटक)—१८८६
दंभाचार्य विलासनमु (व्यंग्य)—१८८६
अपूर्व ब्रह्माचार्य प्रहसनमु (प्रहसन)—१८८६
तर्क संग्रहमु (तर्कशास्त्र की रूपरेखा)—१८८६
आंध्रकवुल चरित्र (तेलुगु कवियों की जीवनियाँ)—१८८७
सत्य संजीवनी (नीति कथा)—१८८७
शरीर शास्त्र संग्रहमु (शरीरशास्त्र की रूपरेखा)—१८८६
हास्य संजीवनी, भाग १ (१६ प्रहसनों का संग्रह)—१८८८
देह आरोग्य धर्मबोधिनी (स्वास्थ्य गाइड)—१८८६
सनी हितबोधिनी (स्त्रियों को उपदेश)—१८८६
तिर्यग-विद्वान्-महासभा—१८८६
महा-अरण्यपुर-आधिपत्यमु (व्यंग्य)—१८८६
हास्य संजीवनी, भाग २ (१७ प्रहसनों का दूसरा संग्रह)—१८६१
सत्यराज पूर्वदेशयात्रलु, भाग १, (व्यंग्य)—१८६१
अलंकार संग्रहमु (छंदशास्त्र की रूपरेखा)—१८६२
पथिक विलासमु (ओलिवर गोल्ड स्मिथ के 'द ट्रैवलर' का अनुवाद)—१८६२
सत्यराज पूर्वदेश यात्रलु, भाग २ (व्यंग्य)—१८६३-६४
नीति कधा मंजरी (ईसप की कहानियाँ)—१८६३-६४
कल्याण कल्पवल्ली ('शेरिडन' की 'द राइवल्स' का अनुवाद)—१८६४
ज्योतिष शास्त्र संग्रहमु (ज्योतिष शास्त्र की रूपरेखा)—१८६५
सरस्वती-नारद-विलापमु (पद्य में वार्तालाप)—१८६५
पत्नी हित सूचनी (पत्नियों के लिए गाइड)—१८६६

लक्ष्मी-शनैश्चर विलासमु—१८९६
जंतु स्वभाव चरित्रमु (जानवरों की आदतें)—१८९६
राजा राममोहन राय चरित्र—१८९६
हास्य संजीवनी, भाग ३ (प्रहसन)—१८९७
स्त्री पुनर्विवाह प्रहसनमु (अधूरी सुखांतिका)—१९००-०१
सावित्री-सत्यवती संभवनमु—१९०४
स्वीय चरित्रमु (आत्मकथा)—१९११
ज़ीसस चरित्र (ईसा मसीह की जीवनी)—१९१३
नव्यांध्र व्याकरणमु (नया तेलुगु व्याकरण, अपूर्ण)—१९१९

'लैम्ब' के 'टेल्स् फ्राम शेक्सपियर' का तेलुगु रूपांतरण भी वीरेशलिंगम् ने किया है। हैदराबाद, मैसूर, त्रावणकोर, बड़ौदा, ग्वालियर, काश्मीर-जैसे प्रमुख भारतीय राज्यों के बारे में उन्होंने संक्षिप्त इतिहास भी लिखे थे। साम्राज्ञी विक्टोरिया तथा महारानी अलेक्ज़ेण्ड्रा की लघु जीवनियाँ उन्होंने प्रकाशित कीं; और अन्य प्रसिद्ध महिलाओं के जीवन-चित्र भी लिखे। बाद में इन सबको उनके संकलित संस्करण में ले लिया गया था। अधिक महत्त्वपूर्ण लिखित भाषण, और सामाजिक समस्याओं पर लिखे उनके निबंधों को, जो मूल रूप में 'विवेकवर्धिनी' तथा उनकी अन्य पत्रिकाओं छपे थे, इस संस्करण में मिला दिया गया।

□

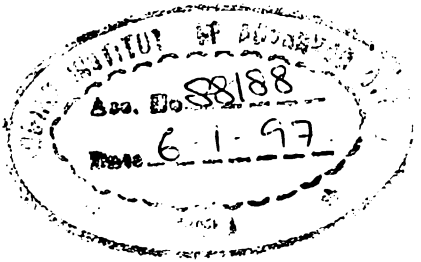
Acc. No. 58188
Date 6-1-97

साहित्य अकादेमी राष्ट्रीय महत्त्व की संस्था है, जिसकी स्थापना भारत सरकार ने सन् १९५४ में की थी। यह एक स्वायत्त संस्था है, जिसकी नीतियाँ अकादेमी की परिषद् द्वारा निर्धारित होती हैं। परिषद् में विभिन्न भारतीय भाषाओं, राज्यों और विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधि होते हैं। अकादेमी के प्रथम अध्यक्ष थे श्री जवाहरलाल नेहरू और वर्तमान अध्यक्ष हैं डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या।

साहित्य अकादेमी का प्रमुख उद्देश्य है भारतीय भाषाओं की साहित्यिक गतिविधियों का समन्वयन और उन्नयन करना और अनुवादों के माध्यम से विभिन्न भारतीय भाषाओं में उपलब्ध उत्तम साहित्य को समग्र देश के पाठकों तक पहुँचाना। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए साहित्य अकादेमी ने एक विस्तृत प्रकाशन-योजना हाथ में ली है। इस योजना के अन्तर्गत जो ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं उनकी सूची साहित्य अकादेमी के विक्रय-विभाग से प्राप्त की जा सकती है।